'नवसन्देश' ग्रन्थ रत्न माला का—प्रथम रत्न

चुनाव पद्धतियां

और

जन-सत्ता

भूमिका लेखक

आचार्य नरेन्द्रदेव एम० एल० ए०

सभापति अखिल भारतीय किसान सभा

और कांग्रेस समाज वादी दल यू० पी०

लेखक—

विजयसिंह "पथिक" सम्पादक "नवसन्देश"

प्रथमवार २००० | सन् १९३९ ई० | मूल्य १।) रु०

प्रकाशक—
'नवसन्देश' ग्रन्थ रत्नमाला
लोहामण्डी, आगरा।

मुद्रक—
राधारमन अग्रवाल
दी मौडर्न प्रेस, आगरा।

भूमिका

श्रीविजयसिंहजी पथिक एक बहुत पुराने राष्ट्रीय कार्यकर्ता हैं। इन्होंने राजस्थान के देशी राज्यों की प्रजा की बहुत बड़ी सेवा की है और राष्ट्रीय हलचलों में निरन्तर भाग लेते हैं। यह एक सफल पत्रकार हैं। इस समय 'नवसन्देश' नामक हिन्दी साप्ताहिक पत्र का कुशलता के साथ सम्पादन कर रहे हैं। इनकी लेखन-शैली बड़ी रोचक और सुगम है। यह दूरूह विषयों का भी विवेचन बड़ी सुलभ रीति से करते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में प्रचलित निर्वाचन पद्धतियों का विशद वर्णन और उनके गुण-दोषों का विस्तार से विवेचन किया गया है। वर्तमान युग का लोकतन्त्र-शासन असफल सिद्ध हुआ है। सच्चा लोकतन्त्र क्या है और किस प्रकार जनता का वास्तविक अधिकार शासन-यन्त्र पर स्थापित हो सकता है, इन गंभीर प्रश्नों को लेकर विद्वानों में विवाद चल रहा है। प्रचलित लोकतन्त्र की असफलता देख कर बहुतों का लोक-तंत्र पर से विश्वास भी उठता जाता है। ऐसी अवस्था में समाज का कल्याण चाहने वाले चिन्ताशील कर्मियों का कर्त्तव्य है कि वे इन सारगर्भित प्रश्नों पर उचित विचार करें। जो लोग लोक-तन्त्र के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं उनके सामने भी यह

जटिल प्रश्न है कि किस प्रकार की निर्वाचन पद्धति को प्रचलित कर जनसत्ता की वास्तविक प्रतिष्ठा हो सकती है।

इन विविध विषयों पर प्रस्तुत पुस्तक में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। लेखक के विचारों से कोई पूर्णतया सहमत हों या न हों, इसमें सन्देह नहीं कि पुस्तक बहुत अच्छे ढंग से लिखी गई है और समस्या के प्रत्येक पहलू पर भली प्रकार विचार किया गया है। पुस्तक सामयिक है और मुझे पूरी आशा है कि हिन्दी पाठक-समाज पथिकजी की पुस्तक से लाभ उठावेगा।

विनीत—

ता० १६-५-३६ ई०

नरेन्द्रदेव (आचार्य)

प्राक्कथन

आजकल हमारे देश में चुनावों का महत्व काफी बढ़ गया है। कांग्रेस के हाथ में सत्ता आने के बाद से तो यह हमारे राष्ट्रीय जीवन का एक मुख्य भाग बन गया है। देश व्यापी दल-बन्दियों ने जहाँ देश के सार्वजनिक जीवन को बहुत नुक़सान पहुंचाया है, वहाँ इस रुचि को बढ़ाने में काफ़ी मदद भी दी है।

कांग्रेस संगठन में पैदा हुई इस उथल पुथल का प्रभाव दूसरे संगठनों पर भी पड़ा है। हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग, अहरार दल आदि अनेक संस्थायें जिनका ध्येय राजनैतिक है, अपने संगठन और विधानों को कांग्रेस की समानता पर लाने की कोशिशें कर रही हैं। प्रत्येक की चेष्टा है कि उसके प्रभाव क्षेत्र में आए हुए समूह और व्यक्ति उसकी त्रुटियों के कारण, उस से अलग न हो जाँय।

यही हालत भिन्न-भिन्न वर्गों के संगठनों की है। पूँजीपति-वर्ग, जमींदार वर्ग, राजाओं का वर्ग आदि सभी के संगठन इस छूत के शिकार हो गए हैं। सब को अपने अपने संगठनों को मजबूत और सुव्यवस्थित बनाने की धुन सवार हो गई है।

कारण स्पष्ट हैं—

अब तक देश की सार्वजनिक संस्थाओं, मुख्यतः कांग्रेस के सामने अँग्रेज़ी साम्राज्यवाद से लड़ने का कार्यक्रम था। स्वभावतः उसका पुरस्कार दमन और कठिनाइयाँ थीं। उनमें केवल उन ही लोगों के लिये आकर्षण था, जो या तो समझदार होने के साथ साहसी और दूरदर्शी भी थे, या अपनी धुन के पागल और भावुक। उनके काम का दायरा भी बहुत संकुचित—प्रायः शहरों की सीमा तक ही था।

परन्तु आज स्थिति सर्वथा दूसरी है। आज एक ओर कांग्रेस के हाथ में शासन सत्ता का काफ़ी भाग है। व्यवस्थापिकाओं के हाथों में क़ानून बनाने की शक्ति है। म्यूनिसिपैलिटियों डिस्ट्रिक्ट बोर्डों आदि के हाथों में स्थानीय शासन प्रबन्ध के काफ़ी अधिकार हैं। दूसरी ओर उनमें हर प्रकार के—जातीय, धार्मिक, वर्गीय—संगठनों को अपने प्रतिनिधि भेजने का अवकाश है।

इसके अतिरिक्त पहले देश में राजनैतिक ज्ञान के ठेकेदार कुछ गिने चुने आदमी थे। साधारण जनता के समान ही मध्यम वर्ग भी राजनैतिक ज्ञान में कोरा था। मताधिकार काफी संकुचित था ही। साथ ही कांग्रेस ने भी जनता को और युवकों को इन संस्थाओं के सम्पर्क से दूर रक्खा। स्वभावतः कांग्रेस के इस रुख़ ने राष्ट्रीय भारत के लिये वही काम किया, जो किसी भी समूह में व्यक्तियों की चरित्र रक्षा के लिये समाज के नैतिक बन्धन करते हैं। उन में से कमज़ोर लोग भी इन बन्धनों के कारण अपनी कमज़ोरियों पर अंकुश रखने को विवश हुए और इस प्रकार, कम से कम ऊपर से, हमारी सेना अनुशासन-

युक्त बनी रही। इस सम्बन्ध में 'विहार प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी' ने जो गत वर्ष, 'कांग्रेस में आ घुसी गन्दगियों' की जाँच करने को एक कमेटी नियुक्त की थी, उसके निष्कर्ष ध्यान देने योग्य हैं। उक्त कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है:—

"हम लोगों ने कागज़ों और गवाहों की जाँच की और उन ज़िलों के कुछ स्थानों को जाकर देखा जो हमारे साथ सहयोग करने को तैयार थे। और तब हमने अपने निर्णय किये, जिन्हें हम नीचे दे रहे हैं।

अचानक विस्फोट—

लोगों की निम्नतम दुर्भावनाओं के एक ही बार फूट निकलने का क्या कारण है? कांग्रेस चुनावों में इसके पहले इतने व्यापक रूप में ऐसी कठिनाइयाँ नहीं उठी थीं। यह कैसे हुआ कि लोगों में अनायास यह इच्छा पैदा हुई कि किसी भी हालत में काँग्रेस की संस्थाओं पर क़ब्ज़ा किया जाय? कारण बहुत दूर नहीं है। जब तक काँग्रेस एक युद्ध करने वाली संस्था थी, वह नैतिकता की ऊँची सतह पर काम कर रही थी। गांधी जी के शब्दों में—वह एक लड़ाई पर जाने वाली फौज की तरह थी, जो कड़े नैतिक अनुशासन का अनुसरण करती है। जब वह एक सामान्य दुश्मन से नहीं लड़ रही थी, उस समय भी वह सेवा की भावना से उद्भूत थी और इसलिए वह चुपचाप काँग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम को ढोए जा रही थी। एक आदर्श, सत्य और अहिंसा में विश्वास द्वारा प्रेरणा पाती थी और यद्यपि उस ऊँचे आदर्श को पहुंचना कठिन था, फिर भी उनको जहाँ तक सम्भव था, ईमानदारी से कार्यान्वित करने की कोशिश की जाती थी। कम-से-कम उन आदर्शों से लोग बहुत दूर नहीं हट जाते थे। ऐसा इस लिए था, क्योंकि हम

समझते हैं, तब उनके सामने कोई भौतिक प्रलोभन नहीं थे और केवल वे ही लोग चुनाव में खड़े होते थे जो स्वाधीनता के कार्य में लगे थे और काँग्रेस के सिद्धान्तों को मानते थे। और इनसे सिर्फ इतने ही लाभ की वे कल्पना कर सकते थे कि इससे उनका आत्म-संतोष होता तथा अपने साथियों की नजर में ऊँचे उठते।

कांग्रेस ने जब से मन्त्रित्व ग्रहण किया, तब से लोगों के रास्ते में बड़े-बड़े प्रलोभन आ खड़े हुए। जो लोग इसकी हिमायत करते थे, उन लोगों ने यह सोच रखा था कि इसके द्वारा सेवा और त्याग के बहुत से द्वार खुल जाते हैं। हम अपनी प्राप्त की हुई स्थिति को दृढ़ कर लेंगे और साथ ही स्वराज्य की लड़ाई को उग्रतर बनायेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि इसने कुछ सहूलियतें ग़रीबों को दीं। लेकिन इसने अवसरवादियों और राजनीतिक समय-सेवियों के लिए बड़े आकर्षण का काम किया। इसने कुछ पुराने कार्यकर्ताओं को भी पतित कर दिया, जो सोचने लगे कि यह उनकी अतीत की सेवाओं के पुरस्कार का समय है। वे भी प्राप्त की हूई लूट में अपना हिस्सा खोजने लगे और इस बात के लिए बेचेनी दिखाई जाने लगी कि कहीं कोई बिना अपने हिस्से के ही न रह जाय। खादी, जो ब्रिटिश-साम्राज्यशाही के विरुद्ध अहिंसात्मक विद्रोह की प्रतीक थी, सेवा का बैज और सत्य-अहिंसा की प्रतिनिधि थी, अब इसके पहिरनेवालों के लिए नौकरी की सिफ़ारिश का काम करने लगी। विभिन्न काँग्रेस कमेटियाँ स्वाधीनता के अङ्ग बनने के बजाय मन्त्रियों के पास दरख्वास्तें भेजने की साधन बन गईं। हर तरह के लोगों में कांग्रेस-संस्था पर क़ब्ज़ा करने के व्यापक ख़याल पैदा हुए ताकि स्वार्थ और लाभ की जगहें अपने और अपने दोस्तों और

नातेदारों के लिए प्राप्त की जा सकें और स्थानीय बोर्ड आदि को हाथों में किया जा सके।"

जनता में सन्देह—

इस प्रकार जहाँ देश के पुराने सेवकों में पतन का श्रीगणेश हुआ है, वहाँ दूसरी ओर इतने दिन के अनुभवों के कारण जनता भी पहले की तरह सरल-विश्वासिनी नहीं रही है। हर दफ़ा हर संस्था में, उसकी भलाई करने के नाम पर चुने जाने वालों ने, अपने आचरणों से उसमें यह भावना पैदा करदी है कि वर्तमान समय में प्रत्येक वर्ग अपना प्रतिनिधित्व स्वयं ही कर सकता है।

दूसरी ओर जिन लोगों के हाथों में अब तक ये अधिकार रहे हैं वा अब आ गए हैं, उनमें उपरोक्त परिस्थितियों के कारण अपने स्थानों से मोह पैदा हो गया है, और इसलिये वे प्रत्येक उपाय से अन्य लोगों और अपने पुराने साथियों तक को आगे आने देने से रोकने में कुछ उठा नहीं रखते। यहाँ तक कि अब इस बीमारी ने कितने ही बड़े २ नेताओं को भी दबोच लिया है।

संक्षेपतः इस स्थिति को बनाने वाले दलों को नीचे लिखे भागों में बांटा जा सकता है:—

१—वे लोग जो हमेशा सत्ता के साथ रह कर उस से लाभ उठाते रहे हैं और इस कला में दक्ष हैं।

२—वे वर्ग, विशेषतः पूंजीपति व ज़मींदार आदि—जिन्हें इंग्लैंड आदि की तरह यहाँ पूंजीवादी शासन स्थापित करने की धुन है और जो वहाँ के तरीकों से परिचित हैं।

३—वे कांग्रेस कार्यकर्ता, जो अपनी सेवाओं के बदले, इस समय लाभ उठाना अपना हक़ समझते हैं।

४—मध्यम श्रेणी के अवसरवादी, आदर्शहीन और साधन रहित लोग, जिनकी सब दलों में काफ़ीसंख्या है।

स्वभावतः इस स्थिति से देश के बहुत से विचारशील मस्तिष्क घबरा उठे हैं। उन्हें देश का भविष्य संकट मय दिखाई देने लगा है। वे देख रहे हैं कि देश को सुसंगठित कर लेने का स्वर्ण-अवसर व्यर्थ खोया जा रहा है। राष्ट्र-निर्माणकारी शक्तियाँ अपने ही विगठन में लग रही हैं और शत्रु हमारी इस दशा पर प्रसन्न हो रहा है। वे इस स्थिति का अन्त कर देने को उत्सुक हैं, परन्तु जिन शक्तिमान दैत्यों को उन्होंने अपनी सहायता के लिये जाग्रत और संगठित किया था, वे आज उन्हीं के सामने मुँह फाड़े खड़े हैं। साथ ही चूंकि उनके अपने ही संगठन के कील-पुर्जे काफ़ी संख्या में ख़राब हो गए हैं और उनके आसुरी प्रभाव में हैं, अतः वे इस प्रवाह को रोकने का भी कोई कारगर उपाय नहीं निकाल पा रहे हैं।

मुख्य कारण—

परन्तु विचार दृष्टि से देखा जाय तो इसमें अस्वाभाविकता कुछ भी नहीं है। न ही विशेष घबड़ाने की ज़रूरत है। हमारे राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं और अन्य वर्गों के चरित्र में जो दुर्बलता इस समय दिखाई दे रही है, वह कोई नई या आज पैदा हुई वस्तु नहीं है। हज़ारों वर्षों की पराधीनता ने उसे हमारी नस नस में पहले ही से भर रक्खा था। केवल परिस्थितियों के कारण उसके खुलने खेलने के मार्ग बन्द थे। इस समय असावधानता इतनी ही हुई कि इस स्थिति के उत्पन्न होने का अन्दाज़ा करके

पहले से उसके कुछ उपाय नहीं सोचे गए। शायद विश्व की, और देश की बदलती हुई परिस्थितियां भी इस ग़लती के लिये काफ़ी ज़िम्मेदार हैं। शायद इसी खतरे का अनुमान करके बहुत से लोगों ने पद ग्रहण का विरोध किया था। वैसे भी जब कभी समाज या शासन की व्यवस्था में कोई नया और व्यापक परिवर्तन होता है, तब कुछ समय तक अव्यवस्था और गड़बड़ी अनिवार्य रूप से होती ही है। प्रत्येक क्रांति के बाद अच्छे से अच्छे सिद्धान्तों का कुछ समय तक दुरुपयोग होता है। किन्तु यदि परीस्थितियों की मांग के अनुसार जनता को विचार और ज्ञान दिया जाय, तो कुछ ही समय में स्थिति बदल जाती है। गड़बड़ी पैदा करने वाली शक्तियों के क्रीड़ा मार्ग रुद्ध हो जाते हैं। कुछ अनुभवों से और कुछ जनता के सजग हो जाने से, उन्हें फिर ठीक रास्ते पर आने को मजबूर होना पड़ता है।

रूस की लाल क्रान्ति के बाद 'समाजवादी सिद्धान्तों, तक का दुरुपयोग हो गया था। स्त्रियों के समानाधिकार और स्वातंत्र्य का रूप "व्यवस्थित अनैतिक जीवन" का सा बना डालने की कोशिश की गई थी। कुछ समय तक यह गड़बड़ी महामना लैनिन के विरोध करने पर भी चलती रही। परन्तु जब जनता में ऐसी बातों के सम्बन्ध में आवश्यक विचार पहुंच गए, तब सब गड़बड़ी शान्त हो गई एवं उसका स्थान वास्तविक और संयत स्वतन्त्रता ने ले लिया। वही यहाँ भी हो सकता है, बशर्ते कि हम अपनों की और अपनी त्रुटियों और बुराइयों की भी खुली आलोचना, और ज़रूरत हो, तो उनका विरोध करने को भी तैयार हों।

क्योंकि आख़िर इन सब गड़बड़ों का मूल कारण तो जनता का राजनैतिक अज्ञान ही है। यदि वह सजग हो, उसमें अपने

हिताहित और शासन व्यवस्था के मुख्य उपकरणों के गुण दोषों का ज्ञान हो, तो फिर अवसरवादियों और स्वार्थियों को उसकी शक्ति का दुरुपयोग करने का साहस ही न हो। साहस करें तो भी उन्हें सफलता न हो।

एक और कारण—

एक और बात ध्यान में रखने योग्य है। इस समय देश का किसान और मज़दूर वर्ग भी इन चुनावों में काफ़ी दिलचस्पी ले रहा है। इन समूहों को मुख्यतः हमने स्वयं ही राजनीति की ओर आकर्षित भी किया है और वास्तव में इन ही का नाम देश है।

इसमें शक नहीं कि आज ये समूह पहले से अधिक समझ-दार हैं। पहले वे मीठी बातों में आकर और नमक-अदायगी के ख़याल से एवं कभी लालच आदि के फेर में पड़ कर अपने मत, अपने मालिक कहे जाने वाले को ही दे डालते थे। अब उनमें से अधिकांश में इतना विवेक और साहस आ गया है कि वे कम से कम 'मालिक वर्ग' के चक्कर में नहीं आते। किन्तु द्राविड़ी-प्राणा-याम द्वारा और दूसरे वर्गों से अब भी वे धोखा खा सकते हैं और उन्हें वह दिया जाता है।

इसके मुख्य कारण दो ही हैं। प्रथम तो यही कि वे अपने मत का पूरा मूल्य नहीं जानते। दूसरे, वे प्रचलित चुनाव पद्ध-तियों और उनके सदुपयोग-दुरुपयोग से सर्वथा अपरिचित हैं। उनके इस अज्ञान का लाभ उठा कर ही प्रायः उनके विरोधी उन्हें असफल करते रहते हैं।

किन्तु बात यहीं समाप्त नहीं होती। ग़रीब वर्गों के विरोधी पहले उन्हें असफल बनाते हैं और जब वे उस असफलता से

पैदा हुई निराशा से प्रभावित होते हैं, अथवा उनका चुना हुआ प्रतिनिधि उनके हितों के विपरीत कुछ कहता या करता है, तब वे उन्हें यह समझाने की चेष्टा करते हैं कि "जनसत्ता या प्रजा सत्ता अव्यावहारिक वस्तुएं हैं। इनसे ग़रीब कोई लाभ नहीं उठा सकते। शासन की कला उनके लिये रची ही नहीं गई है। इसमें तो एक के वजाय अनेक मालिक बन जाते हैं— किस किस को खुश करके काम बना सकते हो ?" आदि आदि

इस प्रकार उनका प्रयत्न यह होता है कि वे जनता के मन में जनतन्त्रात्मक शासन पद्धति और प्रतिनिधि संस्थाओं के प्रति घृणा और अविश्वास पैदा कर दें। स्वभावतः असफलता से निराश और विपत्तियों की कूट चालों से चिढ़े हुए हृदयों पर ऐसे प्रचार का असर होने लगता है। साधारण मनुष्यों की तो वात दूर, हमने अनेक कार्यकर्ताओं पर ऐसी स्थितियों और वातों का प्रभाव होते देखा है।

और यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसी चीज़ को निर्वाध वढ़ने देना न केवल देश के साथ प्रत्युत जनतन्त्र के सिद्धान्त के प्रति भी अभिद्रोह करना है। यदि हम वास्तव में जनतंत्रवादी हैं और अपने देश को उसके लिये तयार करना चाहते हैं, तो ऐसी वातों का तत्काल प्रतिकार करना हमारा कर्तव्य है। भोली और भावुक जनता न तो जनतंत्र चला सकती है, न जनतंत्रात्मक व्यवस्थाओं से लाभ उठा सकती है। वह हमेशा किसी न किसी व्यक्ति वा वर्ग से ठगी जाती रहेगी। अतः जनतंत्र का मार्ग परिष्कृत करने का इसके सिवाय कोई 'राज मार्ग' नहीं है कि साधारण जनता को राजनीति के व्याव-हारिक नियमों की शिक्षा दी जाय। और यह तव तक नहीं हो सकता, जव तक कि चुनाव पद्धतियों के उद्देश्य, उनके सफल

होने के कारण और साधन तथा उनके असफल होने के रहस्य सर्व-साधारण को न बताए जाँय। एक ओर साहित्य द्वारा ऐसे ज्ञान का प्रचार न किया जाय और दूसरी ओर राष्ट्रीय संस्थाओं को उनके स्कूल न बनाया जाय।

किंतु दुर्भाग्य से हमारे देश के प्रकाशक ऐसी पुस्तकों को छूते ही नहीं। अँग्रेज़ी और अन्य भाषाओं में इन विषयों पर काफ़ी साहित्य है। परन्तु वह इतना मँहगा है कि साधारण व्यक्ति उससे लाभ नहीं उठा सकता। प्रस्तुत पुस्तक के लिये ज़रूरी सामग्री एकत्र करने को ही हमें ३००) रुपये से ऊपर के मूल्य का साहित्य देखना पड़ा। उस में शायद ही कोई ग्रंथ २० शिलिंग से कम मूल्य का था।

यही अवस्था हमारी संस्थाओं की है। हमारी राष्ट्रीय महा-सभा ने भी चुनाव पद्धति में एकाकी हस्तान्तरित मत-पद्धति और अप्रत्यक्ष चुनाव को पसन्द किया है, जो काफ़ी पेचीदा तो है ही, जनसाधारण के लिये अधिक उपयोगी भी नहीं है। आज-कल कांग्रेस-संगठनों में प्रायः सदस्य बनाने और चुनाव लड़ने के अतिरिक्त कोई काम नहीं होता। ऐसे समय में यदि Proportional Representation अनुपातिक मताधिकार अथवा कोई दूसरी उपयोगी पद्धति के साथ रिफ़ैरेण्डम, रिकाल और इनीशियेटिव की पद्धतियों को स्वीकार कर व्यवहार में लाया जाता तो लोकमत कितनी आसानी से जनतंत्र के लिये शिक्षित एवं तैयार हो जाता? इस समय चुनावों में पैदा हुई जन साधारण और भिन्न २ वर्गों की अभिरुचि का, जिसे इस समय एक अवाञ्छ-नीय आफ़त समझा जा रहा है, कितना अच्छा उपयोग होता? शायद हम इस स्राप को आशीर्वाद में परिवर्तित कर सकते। अस्तु,

इन तथा ऐसे ही विचारों से प्रेरित हो कर हमने इस पुस्तक को लिखने का साहस किया है और यदि यह इस उद्देश्य की पूर्ति में कुछ भी सहायक सिद्ध हो, तो हम अपना श्रम सफल समझेंगे।

अन्त में हम उन लेखकों और मित्रों का सादर आभार मानते हैं, जिनके लिखे ग्रन्थों, सत्परामर्श और प्रोत्साहन से इस पुस्तक को लिखने में हमें मदद मिली है। इति—

नोटः—इस पुस्तक में जर्मनी की चुनाव पद्धतियों का जहाँ जहाँ उल्लेख है, वहाँ वह 'नाज़ीवाद' स्थापित होने के पूर्व के 'जर्मन विधान' के आधार पर है।

आगरा
१ जून १६३६ ई०

विजयसिंह पथिक

———

विषय-सूची
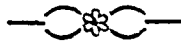
प्रजावाद की पुकार

विषय-प्रवेश

जकल दुनिया भर में प्रजावाद की लहर फैल रही है। जिधर देखो, जिस देश में जाओ, जहाँ के समाचारपत्र पढ़ो, सर्वत्र प्रजा का शासन स्थापित करने की उत्सुकता और इस सम्बन्ध में होने वाले प्रयत्नों की गूँज सुनाई देती है। प्रत्येक पढ़ा-लिखा और पढ़े-लिखों के संसर्ग में रहने वाला व्यक्ति प्रजावाद का मतवाला दिखाई देता है।

इतिहास के जानकारों के लिये इस सारी हल-चल में कोई नवीनता नहीं है। वे जानते हैं कि इस प्रकार की प्रगतियाँ प्रत्येक युग में किसी न किसी रूप में चलती रही हैं। जब से प्रजा के हाथ से शासनाधिकार वर्गों और व्यक्तियों के हाथों में गये हैं, तब ही से इन प्रयत्नों का इतिहास भी बराबर मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि राज्यवादियों और सत्तालोलुपों ने प्रजा के हृदय से उन स्वर्ण-दिवसों की स्मृति को धो डालने का भरसक प्रयत्न किया है। वे उसमें सफल भी हुए हैं। हजारों वर्षों तक वे ईश्वर के प्रतिनिधि भी बने रह चुके हैं। परन्तु फिर भी यह

भावना और ये प्रगतियाँ किसी भी युग में सर्वथा नष्ट नहीं हुईं। वे बराबर भिन्न-भिन्न रूपों में उद्भूत होती रही हैं।

कारण

इसके कारण स्पष्ट हैं। संसार में शासक और शासित दोनों ही मनुष्य हैं। सबकी शरीर-रचना और प्राकृतिक शक्तियाँ भी प्रायः समान ही होती हैं। आज भी हम देखते हैं कि अवसर और साधन मिलने पर ग़रीब से ग़रीब और पिछड़े से पिछड़े समूहों के व्यक्ति अनेक अद्वितीय गिने जानेवाले, सूर्य-चन्द्र और ईश्वर-पुत्रों से अधिक योग्य एवं विचक्षण हो निकलते हैं। यही क्यों, संसार के अधिकांश महापुरुष ऐसे ही व्यक्तियों में से निकले हैं। क्या प्राचीन काल के कृष्ण, व्यास, वाल्मीकि, क्राइस्ट और मुहम्मद आदि और क्या आधुनिक युग के कार्लमार्क्स, लैनिन, हिटलर, मुसोलिनी आदि सब ऐसे ही वर्गों के व्यक्ति थे और हैं।

इन सब बातों से यही प्रमाणित होता है कि मनुष्य-मात्र में स्वतन्त्रता और शासन की शक्ति स्वाभाविक है। मानसिक विकास न होने से अथवा किसी के द्वारा उसके मार्ग रोक दिये जाने पर वह इस तथ्य और सिद्धान्त को भूल भले ही जाय। उसे यह भले ही बिल्कुल याद न रहे कि किसी युग में उसके पूर्वज स्वयं ही शासन-शकट चलाते थे और किसी के शासन में रहना पशुता का चिन्ह माना जाता था। इतना ही नहीं, भले ही वह व्यक्ति और समूह हृदय से यह विश्वास करने लगा हो कि मेरा अधिकार, शासन करना, शासन के बारे में सोचना या उसमें हस्तक्षेप करना नहीं है। फिर भी आगे-पीछे वह शासन के बारे में सोचने, उसमें हस्तक्षेप करने और फिर उसे हथियाने के प्रयत्न करता ही है। यह दूसरी बात है कि कभी

वह उसे धर्मरक्षा के नाम पर करता है, कभी जातिरक्षा के नाम पर, कभी देश-रक्षा के नाम पर और कभी केवल स्वाधीनता के नाम पर।

और वास्तव में ये भिन्न-भिन्न रूप तो उस विस्मृति के आवरण के ही फल हैं। जोर तो मनुष्य की स्वाभाविक, शासन-यन्त्र को अपनी इच्छानुसार चलाने की, भावना ही मारती है। वही उसमें विद्रोहाग्नि प्रदीप्त करती है। परंतु चूँकि राज्यवादियों की कुशिक्षा के फल से वह उसके असली रूप को पहिचानने में असमर्थ हो जाता है, अथवा दूसरे स्वार्थी लोग उसे उसका दूसरा नाम रूप बता देते हैं, अतः वह उसे वैसा ही मानने लगता है। अन्यथा धर्म के नाम पर वा किसी सामाजिक प्रश्न के नाम पर क्रान्ति कराने या शासन-विधान बदलवाने में और केवल स्व-शासन के लिये ऐसा करने में अन्तर ही क्या होता है? मूल लक्ष्य तो दोनों का अपनी इच्छानुसार शासन-यन्त्र को चलाना ही होता है न?

तात्पर्य यह कि यह मनुष्य का प्राकृतिक गुण और उसकी सबसे अधिक स्वाभाविक भावना है। यही कारण है कि मनुष्यों के स्वयं उसे भूल जाने पर भी कृष्ण के वचन :—

"......प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति !"

के अनुसार प्रकृति स्वयं ही उन्हें शासन यन्त्र को स्वेच्छा-नुसार चलाने के लिये प्रेरित करती है एवं इसीलिये अपनी इच्छा के विरुद्ध होने वाले शासन से उसे स्वतः क्षोभ होता है।

राजसत्तावादियों के दांव पेच

प्रश्न होता है कि यदि यही बात है, तो आज तो खुले तौर पर ये प्रगतियाँ आज़ादी और स्वशासन के नाम पर चल रही हैं,

फिर क्या कारण है कि आज भी भिन्न-भिन्न धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक प्रश्नों को लेकर लोगों को लड़ाया जाता है? क्यों नहीं इन सबको एक ही लक्ष्य पर लाया जाता? इस प्रश्न का उत्तर समझनेवाले के लिए बहुत सरल है। यह तो स्पष्ट ही है कि प्रत्येक देश की जनता की उस समय की और आज की स्थिति में आकांश पाताल का अन्तर है, जब कि वह जातियों Tribes की शकल में अपना शासन स्वयं करती थी। उस समय तक न तो लोगों में आजकी सी आर्थिक असमानता थी, न किसी वर्ग या दल विशेष को शासन करने का और दूसरों को लूट कर बड़े बनने का चस्का लगा था। न जनता अपने स्वशासन के अधिकार को भूली थी, न आज की तरह हज़ारों वर्ष शासन-कार्य से अलग रख उसे अयोग्य बनाया गया था। आजकल की तरह पढ़ाई की परीक्षाएँ पास न करने पर भी व्यावहारिक शासन-शिक्षा की बदौलत उसका प्रत्येक व्यक्ति काफ़ी राजनीति-विद् और समझदार होता था, और इस लिये किसी को उसके अधिकारों पर हाथ डालने वा उसे भ्रम में डाल अपना उल्लू सीधा करने का प्रयत्न करने का साहस ही न होता था।

परन्तु आज की स्थिति सर्वथा दूसरी है। आज कई वर्ग ऐसे हैं जो किसी समय शासन कर चुके हैं या कर रहे हैं, और इस लिए उन्हें शासन यंत्र को अपने हाथों में रखने का चस्का लगा हुआ है। इसी प्रकार कुछ पूंजीपति और मध्यम दर्जे के वर्ग ऐसे भी हैं, जो यद्यपि शासन नहीं कर चुके हैं, परन्तु या तो शासक वर्गों के साथी और सहायक रह चुके हैं, अथवा कोई उत्पादक कार्य न करके केवल बुद्धि के सहारे उत्पादक समूहों ही को भिन्न-भिन्न प्रकार ठगकर अपनी स्थिति ऊँची बनाए रखते हैं। और चूँकि शिक्षा आदि का लाभ भी आज ये ही वर्ग पा

रहे हैं, अतः इन ही में राजनैतिक बुद्धि है। यही कारण है कि ये दल प्रायः साधारण जनता के विरुद्ध आपस में मिल जाते हैं और उसके असन्तोष का उपयोग करने के लिये छोटे मोटे प्रश्नों को प्रधानता देकर उसे साथ ले लेते हैं। वे विद्या और बुद्धि का उपयोग आज लोगों को अज्ञानांन्धकार से निकाल, प्रकाश में लाने के लिये नहीं, उनके अज्ञानान्धकार को और सघन बनाने के लिये करते हैं। वे यदि स्वाधीनता या स्वशासन के लिये भी उसका उपयोग लेते हैं और इस लिये यदि उन्हें जनता को स्वाधीनता संग्राम के लिये आकर्षित करना पड़ता है, तो वे उसका चित्र इतना पेचीदा बनाकर उसके सामने रखते हैं कि वह उसे कुछ समझ ही नहीं सकती। उसे दिखाया तो यह जाता है कि सब कुछ उसी के लिये किया जा रहा है, परन्तु शासन पद्धति ऐसी मांगी, स्वीकार की और बनाई जाती है कि व्यवहार में बिचारी साधारण जनता का उसमें कोई स्थान ही नहीं रहता। जनता के स्थान पर और उसके नाम पर ये लोग स्वयं ही उसके विधाता बन बैठते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक देश में भावी स्वराज्य आदि शब्दों की सर्वसाधारण की समझ में आने योग्य व्याख्या अन्त तक टाली जाती है।

एक प्रधान चालबाज़ी

जनता को उल्लू बनाने की ऐसी चालों में सबसे अधिक घातक चाल मत या वोट देने की पद्धति की होती है। वास्तव में आधुनिक युग में इसी पर सब कुछ निर्भर भी है। यही कारण है कि बड़े-बड़े राजनैतिक मस्तिष्क इस पद्धति पर ही अपनी सबसे अधिक शक्ति लगाते आए हैं एवं यही कारण है कि इस पद्धति के इतिहास की अब तक कितनी ही पुनरावृत्तियां हो चुकी हैं।

उदाहरण के लिये प्राचीन-काल के ऐसे असंख्य प्रमाण हैं कि तत्कालीन प्रजातंत्रों में प्रत्येक बालिग़ पुरुष, स्त्री को मताधिकार होता था और चुनाव प्रायः सदा प्रत्यक्ष होता था। परन्तु जब राज्य सत्ता की बुनियाद डालनेवाले मनु आदि ने शासन विधान बनाए तो उन्होंने चुने जाने वाले और चुननेवाले अर्थात् मतदाताओं की योग्यताएँ इस प्रकार स्थिर कीं कि उनके अनुसार ग़रीब या ग़रीबों के प्रतिनिधि शासन यंत्र के संचालकों में प्रवेश ही न पा सकते थे। इस प्रकार उन्होंने एक वर्ग के प्रभुत्व की नींव डाल दी। संक्षेप में यही प्राचीन प्रजावाद और राज्यवाद के मध्यकालीन संघर्ष के इतिहास का सार है। और फिर तो धीरे-धीरे ये वर्ग भी टुकड़े दे दे कर अलग कर दिये गए और "कण्टकेनैव कण्टकम्" की नीति पर एक वर्ग के विरुद्ध दूसरे का उपयोग कर क्रमशः सबको अधिकार विहीन कर स्वेच्छाचारी शासन के पैर जमा दिये गए। इस पर फिर जब कभी असन्तोष अदम्य हो गया, तो उसी क्रम से थोड़ा बहुत प्रतिनिधित्व जनता को दे दिया गया और अवसर मिलते ही फिर उसे स्वार्थी राज्यवादियों एवं उनके बनाए हुए महात्माओं तथा धर्म्माचार्यों द्वारा छीन लिया गया।

आज के प्रजातंत्र

आज के प्रजावाद का इतिहास भी यही अथवा उसी पुराने इतिहास की पुनरावृत्ति है। उदाहरण के लिए प्रजावाद की व्याख्या में कहा जाता है कि :—

It is a Government of the people, by the people and for the people.

अर्थात् प्रजावाद या प्रजातंत्रीय शासन वही है, जिस पर

सारी प्रजा का अधिकार हो और जो प्रजा द्वारा प्रजा के लिये ही चलाया जाता हो।

किन्तु व्यवहार में स्विटज़रलैंड और रूस को छोड़कर शायद ही किसी देश के प्रजातंत्र को वास्तव में प्रजा का शासन कहा जा सकता है। इन देशों में वास्तविक प्रजा सत्ता न स्थापित करने के कारण भी वे ही बताये जाते हैं, जो पहले के राज्यवादी बताते आए हैं। आम तौर पर इस सम्बन्ध में दो दलीलें दी जाती हैं :—

१—यह कि इस प्रकार का शासन छोटे क्षेत्र में ही सम्भव है। किसी बड़े देश में यह रूप व्यावहारिक नहीं हो सकता।

२—यह कि साधारण प्रजा का सीधा प्रतिनिधित्व होने से शासन और व्यवस्थापिका सभाओं में योग्य आदमी नहीं पहुँचते और इस लिये शासन नीति कमज़ोर एवं दोष-युक्त बन जाती है।

ये दलीलें अधिक बल के साथ और बहुत काल से दी जाती रही हैं और इसीलिये जो लोग बहुधा दूसरों ही के विचारों को लेकर बुद्धिमान् बनने के आदी हैं वे प्रायः इन्हें मान लेते हैं। परन्तु इतिहास और राजनीति के जानकार लोग जानते हैं कि ये सर्वथा थोथी बातें हैं और लोगों को ग़लत रास्ते पर डालने के लिये गढ़ी गई हैं वास्तव में 'विस्काउण्ट ब्राइस' के शब्दों में कहें तो—"व्यावहारिक रूप से अपने क्षेत्र में शासन करने का अवसर दिया जाना ही, जनता के लिये प्रजातंत्र शासन चलाने की शिक्षा का प्रधान साधन है।"

मि० ब्राइस ही इस संबन्ध में आगे कहते हैं: - "पिछड़े हुए समूहों में शिक्षा का प्रचार एक वाञ्छनीय कार्य है। परन्तु वह

उन्हें प्रजातंत्र चलाने के लिये अधिक योग्य बना दे, यह कोई आवश्यक बात नहीं है । यही क्यों, वह उन्हें और अधिक अयोग्य भी बना दे सकती है।" (मौडर्न डिमौक्रेसीज़ पहला भाग पृ० ८६) सार यह कि राज्यवादियों की ऊपर वर्णित दलील सर्वथा स्वार्थपूर्ण और थोथी है। यूनान जिन दिनों उन्नति के शिखर पर था, उन दिनों वहां प्रत्येक पुरुष-स्त्री को न केवल मताधिकार था प्रत्युत वहाँ की महासभा के अधिवेशन में प्रत्येक को जाकर बोलने और बहस करने का भी अधिकार था। आज जो कहा जाता है कि जितने कम आदमी हों, उतना ही काम अच्छा और विचारपूर्ण होता है, उसके विपरीत वहां गंभीर से गंभीर संधिपत्र तक सात २ हज़ार की सभाओं में बहस करके स्थिर किये जाते थे। फिर भी उनकी भाषा और उनकी धाराएँ उतनी ही नितिज्ञतामय और विचारपूर्ण होती थीं, जितनी कि आज के अच्छे से अच्छे नीतिज्ञों की। और समय तो इन कामों में आज से भी कम लगता था। अतः प्रश्न यह है कि यदि उस ज़माने की कम शिक्षित एवं अशिक्षित जनता ऐसा कर सकती थी, तो अवसर और व्यावहारिक शिक्षा मिलने पर, शिक्षा और प्रचार के वैज्ञानिक साधनों से सम्पन्न, आधुनिक देशों की जनता वैसा क्यों नहीं कर सकती ?

यह तो रही पुरानी बात, आज भी रूस ने इस चीज़ को व्यावहारिक बना कर दिखा दिया है। उसे स्विटजरलैंड की तरह छोटा देश भी नहीं कहा जा सकता। न ही यह कहा जा सकता है कि वहां की केन्द्रीय सरकार कमजोर है। क्योंकि जहां गत विश्वव्यापी महासमर के पूर्व इंग्लेंड प्रथम श्रेणी की शक्तियों में और रूस तीसरी श्रेणी की शक्तियों में था, वहां पिछली क्रांति के बाद का रूस आज प्रथम श्रेणी की और इंग्लेंड पांचवीं श्रेणी की सैनिक शक्तियों में आ गया है।

रही दूसरी दलील, सो उसका मूल आधार तो पहली ही दलील है। जब वही कसौटी पर नहीं ठहरती तो यह उठ ही नहीं सकती। क्योंकि जैसाकि कहा जा चुका है, कि राजनीति स्कूलों में पढ़ी जाने वाली वस्तु नहीं है। वह ऐसे विषयों में से है, जो व्यावहारिक शिक्षा द्वारा ही सीखी जा सकती है। यही कारण है कि पंजाब केसरी महाराजा रणजीतसिंह और महाराष्ट्र वीर शिवाजी आदि अपढ़ और कम पढ़े होकर भी सफलनीतिज्ञ और स्वतंत्र शासक हो गए और इंग्लैंड तक शिक्षा पाए हुए हमारे देशी राजा आज भी लार्ड कर्जन के शब्दों में Linnets in guilded cages सुनहरी पिंजड़ों की बुलबुलें बने हुए हैं।

रूस में भी जब पहले पहल क्रांति करके मजदूरों ने शासन अपने हाथों में लिया, तब पढ़े लिखों ने उनसे असहयोग कर उनका मज़ाक उड़ाना शुरू किया था कि—"देखें, ये लोग कैसे शासन शकट चलाते हैं ?" परन्तु संसार भर के कूटनीतिज्ञ साम्राज्यवादी राष्ट्रों के अपनी सारी शक्ति लगा देने पर भी, मज़दूरों के अकेले, नवस्थापित राज्य ने जिस प्रकार सफलता पूर्वक इनका सामना कर अन्त में सारी दुनिया को अपने साथ सहयोग करने को बाध्य किया है, वह स्वतः इस बात का प्रमाण है कि राजनैतिक योग्यता स्कूली योग्यता पर निर्भर रहनेवाली वस्तु नहीं है।

ठीक ऐसा ही उदाहरण स्विटजरलैंड का है। वहां व्यवस्थापिका सभा के स्वीकृत कर लेने पर ही कोई 'बिल' क़ानून नहीं बन जाता। स्वीकृत हो जाने पर उस पर आम जनता का मत लिया जाता है, जिसमें बनजारों की तरह घूमते रहने वाले पहाड़ी पशुपालक भी मत देते हैं। इस प्रकार जनता का बहुमत जिस स्वीकृत बिल को मिल जाता है वही क़ानून बनता है।

इस विधान के फल स्वरूप वहां की जनता ने १८६६ से १८३६ तक व्यवस्थापिका सभा के बनाए और स्वीकृत किये हुए क़ानूनों में से ६६ स्वीकार किये और २६ बिल अस्वीकार कर दिये। उस समय अशिक्षित जनता के द्वारा शिक्षित नीतिज्ञों के बनाए इन विधानों के अस्वीकृत हो जाने पर योरोप में बहुत कुछ कहा सुना गया था। आम जनता को इस प्रकार अधिकार दिये जाने की निन्दा की गई थी और उसके भयंकर परिणामों के चित्र खींचे गए थे। किसी २ ने तो यहाँ तक कह दिया था कि स्विस संघ शासन नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। व्यवस्थापिका के सदस्य और शासन-विभाग के अधिकारी उदासीन हो जायँगे। आदि आदि। परन्तु पांडित्याभिमानी स्वार्थियों की ये सब भविष्य वाणियां झूठी साबित हुईं। इतना ही नहीं, कुछ वर्षों के बाद *उन्हीं नीतिज्ञों को यह मान लेना पड़ा कि* "जनता ने उन्हें अस्वीकार कर दूरदर्शिता का काम किया था। वे स्वीकृत हो जाते तो उनसे राष्ट्र को बड़ी हानि पहुँचती।" अस्तु

इस पुस्तक का विषय प्रजावाद का इतिहास देना नहीं, प्रत्युत पाठकों के सामने केवल मतदान की वर्तमान पद्धतियों के भेद और उनके गुणावगुण रखना है, ताकि प्रजावाद के इस महत्वपूर्ण अंग के बारे में अपनी जानकारी बढ़ाकर वे लाभ उठा सकें। अतः अब हम उसी विषय को प्रारम्भ करते हैं।

आधुनिक-मताधिकार
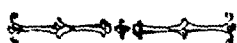
आधुनिक मताधिकार

इङ्गलैंड

आधुनिक मताधिकार प्रथायें, उपरोक्त दोनों (रूस और स्विटज़रलैंड) देशों को छोड़कर, यद्यपि वे सब प्रजातंत्र के ही नाम पर जारी हैं, तथापि किसी भी देश में वे पूरे प्रजातंत्रीय सिद्धान्त के अनुसार नहीं हैं। इसीलिये इन्हें विद्वान् लोग प्रायः प्रतिनिध्यात्मक सरकारें Representative Government कहते हैं। इनके विकास का इतिहास भी कम पेचीदा नहीं है। आज तो ये शासन प्रणालियां फिर भी किसी हद तक इस नाम को चरितार्थ करती हैं, परन्तु अपने शैशव काल में तो वे सर्वथा विपरीतार्थ वाली थीं। अर्थात् नाम के लिये वे प्रजा की प्रतिनिध्यात्मक संस्थाएं कही जाती थीं, परन्तु वास्तव में होती थीं राज्यसत्तावादियों की प्रतिनिध्यात्मक सरकारें।

उदाहरण के लिए इंगलेंण्ड की पार्लियामेंट—जो पार्लियामेंटों की माता थी—सन् १८३२ के सुधारों के पहले सर्वथा लार्ड्स् (जिमीदारों और जागीरदारों) के प्रतिनिधियों की संस्था थी। प्रजा के अन्य वर्गों का उसमें एक भी प्रतिनिधि न होता था।

१८३२ के सुधारों ने पहले पहल मध्यम वर्ग के कुछ भाग को मताधिकार दिया। इसके पहले इंगलेंड का शासन ठीक वैसा ही था, जैसा कि सरदारों की प्रधानता के युग में मेवाड़ में था। ख़जाने पर राजा का अधिकार था और शासन के बारे में वह जैसे और जब चाहे आर्डिनेंस निकाल सकता था। हां, जागीर-दारों पर वह हाथ न डालता था और इसलिये वे भी खुले मुंह जनता को लूटते थे। व्यापारी वर्ग की भी बुरी दशा थी। प्रायः देश भर के लिये आवश्यक कपड़े और मसाले भारत से इंग्लेंड जाया करते थे। प्रजा भरपेट परिश्रम करके भी भूखों ही मरती थी।

आन्दोलन

आखिर प्रजा ने तंग आकर सन् १६६० ई० में अपने प्रतिनिधित्व के लिये आन्दोलन शुरू किया। शासकों ने भी अपने स्वभाव के अनुसार इसे दबाने की चेष्टा की। परन्तु इस चेष्टा ने उसे दबाने के बजाय और भड़का दिया। अन्त में सन् १६८८—८९ में वहां क्रांति हो गई एवं तब कहीं जाकर प्रजा को थोड़े से प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिला।

परन्तु इस से जनता को लाभ कुछ नहीं हुआ। क्योंकि प्रथम तो उस के प्रतिनिधि बहुत थोड़े थे। दूसरे उम्मेदवारों की योग्यताएँ ऐसी निश्चित की गई थीं कि उस हैसियत के आदमी उनके वर्गों में प्रायः मिलते ही न थे और इसलिये उन्हें उन ही वर्गों के लोगों में से अपने प्रतिनिधि चुनने पड़ते थे, जो शासकों से मिल जा सकते थे; यथा बड़े २ व्यापारी आदि।

स्वभावतः यह स्थिति देखकर तीसरे जार्ज के समय में जनता ने फिर आन्दोलन शुरू किया। परन्तु इसी समय फ्रांस में राज्य क्रांति हो गई। और इसके बाद तो नैपोलियन के युद्धों

का तांता ही बंध गया। अधिकारियों ने भी इस स्थिति से खूब लाभ उठाया। उन्होंने देश की रक्षा के नाम पर ग़रीबों से अपना असन्तोष हृदय में ही दबा रखने की अपील की और भावुक जनता मान गई। यह भी विश्वास दिलाए गए कि अशान्ति और युद्धों से छुटकारा पाते ही प्रजा के लिये स्वर्ग का द्वार खुल जायगा। उसे मुँह मांगे अधिकार दे दिये जायँगे।

परन्तु फ्रांस की क्रांति को धीरे-धीरे चालीस वर्ष बीत गए। उसकी फैलाई हुई चिंगारियां भी बुझ गईं और उसकी स्मृतियाँ भी धुंदली पड़ चलीं। फिर भी स्वर्ग का द्वार नहीं खुला। प्रजा को कोई अधिकार नहीं दिया गया। यही क्यों, शासक वर्ग वाले उस "दुःस्वप्न" को मानों भूल ही गए।

दूसरा आन्दोलन

विवश हो जनता ने फिर आंदोलन शुरू किया। इस आंदोलन की गति भी पहले से तीव्र थी। शासकों ने भी फिर एक बार इसे दबा देने की कोशिश की। जनता ने भी दृढ़ता से सामना किया।

इसी बीच फ्रांस में दूसरी राज्य क्रांति हो गई। अधिकारियों ने पहले ही की तरह इस अवसर से भी लाभ उठाना चाहा। देश-रक्षा के नाम पर जनता से आन्दोलन रोकने की अपीलें की गईं। परन्तु अब जनता इन चालों को समझ चुकी थी। काठ की हांडी एक ही बार चढ़ती है। इसी लिये उसने आन्दोलन को बन्द करने के बजाय क्रान्ति कर डाली, और इसी का फल थे १८३२ के सुधार।

परन्तु ये सुधार भी चालों से ख़ाली न थे। उनमें भी मताधिकार इतना संकुचित रक्खा गया था कि किसान, मजदूरों

और कारीगरों के सच्चे प्रतिनिधियों का शासन यंत्र में घुसना प्राय: असम्भव था। हाँ, इस बार जनता के आर्थिक कष्ट कम करने का विशेष रूप से प्रयत्न किया गया। व्यापार रक्षा के लिये भी नई योजनायें की गई। इसी ज़माने में भारतीय माल पर मनमाने टैक्स लगाकर इंग्लैंड के उद्योग धन्दों को उन्नत करने का उपक्रम किया गया।

१८६६ की क्रांति

परन्तु ऐसे उपायों से जनता अधिक दिन शान्त नहीं रह सकती। विशेषत: जब कि उसकी आँखों के सामने फ्रांस की क्राँति हो चुकी थी। और भी कुछ बातें उसे बल देनेवोली हो गई। इस समय पार्लियामेंट में चुनकर जाने वाले तो प्राय: दो ही वर्गों ज़िमीदारों और बड़े-बड़े व्यापारियोंके व्यक्ति होते थे, परन्तु मताधिकार मध्यम श्रेणी के लोगों को भी था। स्वभावत: हमारे नेशलिस्ट, लिबरल और स्वराजिस्ट आदि दलों की तरह इंग्लैंड के इन दोनों दलों में प्रतिद्वन्दिता चलती रहती थी। प्रत्येक दल यह चेष्टा करता था कि वह अपना बहुमत बना ले, ताकि वह अपने वर्ग के लिये हित कर क़ानून बना सके। और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रत्येक वर्ग जनता को अपनी ओर आकर्षित करने को बाध्य था। अत: स्वभावत: व्यापारी वर्ग ने साधारण जनता को अपने पक्ष में लेने के लिये उसके मताधिकार का प्रश्न उठाया। "ब्राइट" और "ग्लैडस्टन" जैसे व्यक्ति इस आन्दोलन के अगुआ बन गए और इस प्रकार प्रगति शीघ्र बलवती हो गई।

इसके फल से १८६७ ईस्वी में फिर सुधार हुए। इस बार कारीगरों और किसानों के भी एक भाग को मताधिकार मिला। परन्तु इसका लाभ भी विशेष रूप से उक्त दो वर्गों को ही

मिलता था। कारण, प्रथम तो उम्मेदवारों की योग्यताएँ ऐसी निश्चित कर दी गई थीं कि उस श्रेणी के व्यक्ति इन वर्गों में बहुत कम निकलते थे। दूसरे चुनाव पद्धति इतनी व्ययशील रक्खी गई कि ग़रीब वर्ग जब तक पूर्णतः संगठित न हों, उसका पूरा लाभ न उठा सकते थे। तीसरे, इसी वर्ग के लोग जनता के नेता बन गए थे और शब्द जाल द्वारा उसे अपने पंजे में फंसाए हुए थे।

धीरे-धीरे यह स्थिति जनता की दृष्टि में आने लगी। सब तो नहीं, कुछ लोग ऐसी चालों को समझने लगे। फलतः फिर आन्दोलन उठा और १८८४ ई० में पुनः कुछ सुधार हुए एवं इस बार किसानों और कारीगरों के बड़े काफ़ी भाग को मताधिकार मिल गया।

मज़दूरों में जागृति

परन्तु मजदूरां और स्त्रियों को अब भी मताधिकार न था और चूँकि इङ्गलैण्ड उद्योग प्रधान देश बन चला था और गाँवों की जनता निरन्तर कारखानों में भरती होकर मजदूरों की संख्या बढ़ा रही थी, अतः देश का बहुमत अब भी अधिकार-विहीन ही रहा। ऐसा करने का मुख्य कारण यह भी था कि शहरों में रहने से मजदूर लोग राजनैतिक प्रश्नों को जल्दी समझने लग जा सकते थे। गाँवों में तो राजनैतिक ज्ञान को पहुँचते काफ़ी समय लगता है और इसलिये वहाँ के लोगों के अज्ञान का लाभ उठा उपरोक्त वर्ग आसानी से उनके प्रतिनिधि एवं नेता बने रह सकते थे। किन्तु शहरों में यह अधिक दिन सम्भव न था। यही कारण था कि मज़दूरों को मताधिकार देने में बराबर टाला-टूली होती रही।

आखिर इस वर्ग में भी असन्तोष पैदा हुआ, और स्त्रियों तथा मजदूरों ने भी मताधिकार के लिये आवाज़ उठाई। इस प्रगति को दबाने में भी कसर नहीं रक्खी गई। परन्तु गिरते पड़ते अन्त में वह बलवती हो ही गई। और इस प्रकार ३० वर्ष से अधिक आयु की स्त्रियों तथा मज़दूरों के अधिकांश भाग को १९१८ ईस्वी में मताधिकार मिल गया।

परन्तु इस मताधिकार का भी पूरा उपयोग असम्भव बना दिया गया। क्योंकि "हाउस आफ़ कामन्स," जिसमें इन सब दलों के प्रतिनिधि चुने जाते थे, अकेला ही किसी बिल को स्वीकार करके कानून नहीं बना सकता था। उसका "हाउस आफ़ लार्डस्" से भी स्वीकार होना अनिवार्य था। और हाउस आफ़ लार्डस् में तो वंशानुगत ज़िमीदारों एवं जागीरदारों के ही प्रतिनिधि होते हैं। जनता पक्ष के लिये उसमें स्थान न तो पहले था, न अब है।

दो व्यवस्थापिका सभाएँ

प्रतिनिध्यात्मक शासन के नाम पर अप्रतिनिध्यात्मक शासन या प्रजावाद के नाम पर वर्गवाद की यह दूषित पद्धति इङ्गलैण्ड की पार्लियामेण्ट की ही विशेषता नहीं है। अधिकांश देशों में उन देशों में भी, जहाँ प्रत्येक बालिग़ व्यक्ति को मताधिकार प्राप्त है वहाँ भी भिन्न-भिन्न उपायों से वास्तविक लोकमत का प्रभाव शासन पर न पड़ने देने की ऐसी व्यवस्थाएँ हैं।

ऐसे उपायों में से एक प्रधान उपाय दो व्यवस्थापिका (क़ानून बनानेवाली) सभाओं की पद्धति है। आम तौर पर इनमें से एक साधारण जनता के भिन्न-भिन्न वर्गों के वा सम्मिलित चुने हुए प्रतिनिधियों से बनी होती है, और दूसरी

अल्पमत—कम संख्या वाले समूहों के प्रतिनिधियों की। और चूंकि दुनिया भर में अल्प संख्या धनवानों और भूस्वामियों की ही है, जाति, धर्म आदि के आधार पर अधिकांश देशों में चुनाव नहीं होता, अतः इस दूसरी सभा में बहुमत आम तौर पर राज्यवादियों और पूंजीपतियों का होता है। यह बनाई ही इसलिए जाती है कि यदि जनता के प्रतिनिधियों की व्यवस्थापिका सभा शासन यंत्र में कोई ऐसा क्रांतिकारी परिवर्तन करना चाहे, जिससे बड़े लोगों के स्वार्थ को धक्का पहुँचता हो, तो दूसरी व्यवस्थापिका सभा उसे अस्वीकार कर देती है। वह उसे तब तक क़ानून नहीं बनने देती, जब तक कि वह सर्वथा या अधिकांश में उसके अनुकूल न बन जाय। यही कारण है कि इंग्लैंड और दूसरे देशों में अनेक बार मज़दूरों या किसानों के प्रतिनिधियों का बहुमत हो जाने पर भी, वे कभी साधारण ग़रीब जनता के लिए वह स्थिति पैदा नहीं कर सके, जो बड़ों की बनी हुई है। इस प्रकार कूटनीति पूर्ण चुनाव पद्धति की बदौलत नाम के लिए देश के बहुमत या प्रजा के हाथ में शासन होने पर भी, सर्वत्र प्रायः अल्प-संख्यक सत्ताधारियों की ही तूती बोलती है।

और चालें

इस के अतिरिक्त और भी बहुत सी चालें सम्पन्न लोगों की ओर से अपना फ़ौलादी पंजा शासन पर जमाए रखने के लिए चली जाती हैं। ग़रीबों में से जो व्यक्ति कुछ योग्य निकलता है, उसे पद, प्रतिष्ठा, सम्पत्ति आदि देकर खरीद लिया जाता है। वह ऊपर से ग़रीबों का सेवक बना रहता है। पूंजीपतियों और राज्यसत्ता को कोसता रहता है और इस प्रकार ग़रीब का सर्वत्र प्रतिनिधि बन जाता है। परंतु जब व्यावहारिक रूपसे कुछ करने

का प्रश्न आता है, तब वह पूंजीपतियों और सत्ता को ही लाभ पहुँचाता है। कभी ग़रीबों की हितरक्षा के अवसर पर वह बीमार हो जाता है और कभी अन्य कारण से अनुपस्थित हो जाता है। इस प्रकार लोगों को भ्रम में डालकर वह काफ़ी अरसे तक प्रतिष्ठा के साथ उनका नेता बना रहता है।

इसके अतिरिक्त बहुत से पूंजीपति या सत्ताधारी स्वयं भी जनता का रुख़ देख कभी साम्यवादी और कभी कम्यूनिस्ट तक बन जाते हैं। धन से ख़रीदे हुए प्रचारक और समाचार-पत्र तो उनके हाथ में होते ही हैं, अतः उनके बल पर बिना कोई त्याग की ठोस सेवा किये, थोड़े से थोड़े समय में वे प्रसिद्ध नेता बन जाते हैं। और जनता के मस्तिष्क एवं विचारों का निर्माण तो आज कल उपरोक्त दो साधनों से होता ही है। अतः वह भी उस पर जल्दी विश्वास करने लग जाती है।

इसी तरह भिन्न २ आकर्षक और भ्रामक नामोंवाली संस्थाएं खोली जाती हैं। आश्रम स्थापित किये जाते हैं। इनमें वैतनिक नौकर रक्खे जाते हैं। उन्हें अच्छे लेखक एवं संगठनकर्ता बनाया जाता है। हां, इन की संस्थाओं की चोटी अपने हाथ में रक्खी जाती है। इनके कार्यकर्ता स्वयं कदाचित् ही किसी व्यवस्था-पिका के लिये खड़े होते हैं। उन्हें आवश्यकता ही क्या है, जब कि भिन्न २ रूपों में उन्हें प्रतिष्ठा के साथ काफ़ी धन मिलता है। वे केवल निःस्वार्थ सेवा का चोला पहने रहते हैं। यहां तक कि सार्वजनिक सेवाओं और उसके कामों में भी जनता से कुछ व्यय नहीं कराते। ऊपर से कहते हैं—"इन ग़रीबों के पास क्या है, जो इन से ख़र्च करावें। इनके लिये तो धन इन धनियों से लाना चाहिये, जो इन्हीं को लूट २ कर मोटे बने हुए हैं।" भोली जनता इन बातों पर मुग्ध हो जाती है। वह विचारी क्या समझे

कि इन का वास्तविक ध्येय कुछ और है। यदि बच्चे को सदा गोदी में रक्खा जाय एवं अपने हाथ पैरों से काम बिल्कुल न करने दिया जाय तो वह पंगु हो जायगा। इसी प्रकार जो समूह अपना संगठन, अपनी शिक्षा, अपनी रक्षा और अपने भरण-पोषण के लिये दूसरों पर ही निर्भर रहता या रक्खा जाता है, उसमें स्वावलम्ब नहीं आ सकता। वह सदा के लिए पर मुखापेक्षी बन जाता है। और जिस दिन वह स्वतंत्र विचार का आश्रय लेना चाहे, उसी दिन दाता लोग अपनी मुट्ठी बंद कर के पलक मारते में उसके माया के संसार को चौपट कर दे सकते हैं इसके अतिरिक्त, इस विधि से ऐसे संगठनों में काम करने वाले सब कार्यकर्ता दाताओं के हाथ में और उनके इंगित पर चलने वाले रहते हैं उनका ध्येय वेतन कमाना होता है, न कि सेवा।

इसी दृष्टि से ऐसे दल ग़रीबों का संगठन स्वावलम्बन के आधार पर नहीं करते। अपना धन खर्च करके करते हैं। ताकि उनके आन्दोलन का उपयोग अपने लाभ के लिये, जब तक आवश्यक हो, कर लिया जा सके और फिर जिस दिन इच्छा हो, उसे तुरन्त ख़तम कर दिया जा सके। यही इस परोपकार और दया की भावना का रहस्य होता है। ऐसी संस्थाओं का राजनैतिक होना ज़रूरी नहीं होता वे विशुद्ध धार्मिक (मिशनरी) भी होती हैं और जो बालचर संघ जैसी अर्द्ध राष्ट्रीय अथवा शिक्षा, स्वास्थ्य सम्बन्धी भी। परन्तु बिचारे अशिक्षित ग़रीब इन पेचीदगियों को क्या समझें ?

बस इस प्रकार प्रभाव जमा कर चुनाव का अवसर आते ही उस प्रभाव का उपयोग कर लिया जाता है और दाताओं की पसन्द के आदमी चुन लिए जाते हैं।

यही क्यों, यदि सत्ताधारियों को कहीं टालस्टाय अथवा पोप जैसा व्यक्ति मिल जाता है तो वे उसे फ़ौरन अवतार बना देते हैं और फिर उसके प्रभाव की दूकानदारी करते हैं।

इसके अलावा ऐन मौक़े पर भिन्न भिन्न प्रकार की रिशवतों से मतदाताओं, उम्मेदवारों और प्रचारकों को ख़रीदा जाता है। किसी को पद का, किसी को नौकरी का, किसी को ठेके आदि देने का और किसी को व्यापारिक प्रलोभन दिया जाता है। भिन्न २ समूहों और जातियों की संस्थाएँ बनवा कर उन की बागडोर अपने एजेंटों के हाथों में दी जाती है। साधु, महन्तों और धर्माचार्यों को ख़रीदा जाता है। समाचार-पत्र ख़रीदे जाते हैं। अधिकारी मोल लिये जाते हैं। शिक्षा संस्थाओं के द्वारा जनता के मस्तिष्क को विकृत कराया जाता है। जातियों और धर्मों में दलबन्दियां कराई जाती हैं। षड्यंत्र कराये जाते हैं। लूटमार और मारपीट कराई जाती है। छोटे धनवानों और मध्यमवर्ग के लोगों को भिन्न २ प्रकार के प्रलोभन दे अपने वर्ग और ग़रीब जनता के विरुद्ध औज़ार बनाया जाता है।

सार यह कि धन, सत्ता और धूर्तता की त्रिपुटी द्वारा जो कुछ भी होता है, सब किया जाता है, ऐसी अवस्था में क्या आश्चर्य है यदि साधारण जनता सब कुछ करने पर भी अन्त में अपने को असमर्थ पाती है ?

परिणाम

इस स्थित का परिणाम यह हुआ है कि आज प्रत्येक देश में पुराने ऋषि, पण्डों, पुजारियों और महन्तों की जगह Professional Politicians "पेशेवर राजनीतिज्ञों" के दल पैदा हो गए हैं। ये लोग प्रत्येक चुनाव में जनता को आकर्षित

करने के लिये नए २ स्वांग रचते हैं और नित्य नए खेल खेलते हैं। जनता बिचारी इन चालों को तो समझने में असमर्थ है, परन्तु इतना उसे अवश्य विश्वास हो चला है कि ये प्रति-निध्यात्मक संस्थाएं निकम्मी हैं वे उसका कुछ भला नहीं कर सकतीं। लोगों का व्यवस्थापिकासभाओं से ही नहीं, प्रजातंत्र आदि पर से भी विश्वास उठ चला है। वे प्रायः कह उठते हैं कि "इस बेलगाम प्रजावाद से तो राज्यवाद ही भला।" क्योंकि आखिर इसमें इन सारे कूट-चक्रों में जो अनन्त धन व्यय होता है, वह भी तो भिन्न-भिन्न रूपों में साधारण प्रजा से ही वसूल किया जाता है और इसीलिये प्रत्येक शासन-सुधार का अनिवार्य परिणाम कर-वृद्धि होता है। और साधारण प्रजा का अशिक्षित व्यक्ति उन पेचीदगियों को क्या समझे, जिनके द्वारा प्रजावाद को असफल बनाया जा रहा है। वह तो अपने सुख-दुख पर से ही शासन की बुराई भलाई का अनुमान करता है और इसीलिये प्रजावाद को कोसने लगता है।

परन्तु धूर्त सत्तावादी उसकी इस निराशा से भी लाभ उठाते हैं। वे उसकी इस धारणा को यह कह कर और दृढ़ करने की चेष्टा करते हैं कि हम तो पहले ही कहते थे कि "प्रजावाद बुरा है। सर्व-साधारण में शासन करने की योग्यता नहीं होती।" इत्यादि

ग़नीमत यही है कि साधारण प्रजा में भी अब सब ही मूर्ख नहीं हैं। इस के अतिरिक्त समष्टिवाद के प्रचार ने बहुत कुछ लोगों का भ्रम दूर कर दिया है और इसलिए अब जहाँ साम्य-वादी सरकार स्थापित करना असम्भव है, वहाँ भी लोग निराश हो जाने के स्थान पर वर्तमान चुनाव पद्धतियों में ही भिन्न २ प्रकार के संशोधन कर आगे बढ़ने की चेष्टा कर रहे हैं। यही

कारण है कि आज प्राय: प्रत्येक प्रजातंत्रीय देश में चुनाव पद्धति के सुधार का आन्दोलन चल रहा है।

नए उपाय

लोगों का अविश्वास, उपरोक्त कारणों से, व्यवस्थापिका सभाओं में इतना गहरा हो गया है कि बहुत से देशों में उनके सदस्यों को लोग घृणा-पूर्वक Plunder Band "लुटेरा दल" Puppets of Party Bosses "पूँजीवादियों के दल के एजेंट" Selfish Pack "स्वार्थी टोली" Mercenaries "भाड़े के टट्टू" आदि नामों से पुकारते हैं। (Demands of Democracy)।

इतना ही नहीं, व्यवस्थापिकाओं द्वारा और उनके चुनावों में उपयोग किये जाने के कारण ही लोगों को पुलिस, अदालतों और शिक्षकों तक पर अविश्वास हो गया है और आज प्राय: सर्वत्र यूनान की तरह यह चेष्टा हो रही है कि इन सबकी चोटी सीधी साधारण जनता के हाथ में हो।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये योरोप के राजनीति विशारदों ने चार नए उपायों का आविष्कार किया है—Referendom Initiative, Recall and Plebiscite, हमारे देश में तो बहुत से शिक्षित तक इन शब्दों से परिचित भी नहीं हैं। इन शब्दों की तो बात दूर, बम्बई कांग्रेस में जो कांग्रेस चुनावों के लिये Single Transferable Vote की पद्धति स्वीकार की गई, उसी के सम्बन्ध में कई विद्वान और सम्पादक तक उस समय यह पूछते देखे गए थे कि "सिंगल ट्रांसफ़रेब्ल वोट" किसे कहते हैं।

चूँकि हमारा देश भी प्रजावाद के उम्मेदवारों में से एक है और ये सब कठिनाइयां किसी न किसी रूप में उसके सामने भी आने लगी हैं और आवेंगी, अतः इस पुस्तक में इसी दृष्टि से भिन्न-भिन्न चुनाव पद्धतियों का विवेचन किया जा रहा है कि देशवासी इससे लाभ उठाकर, हो सके तो उन ख़तरों से बचकर चलें, जिनसे न बच कर और देशों की जनता ने ह उठाई है।
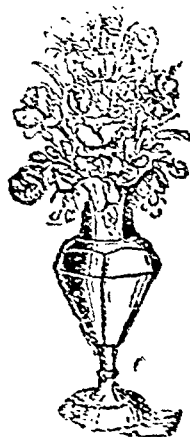
चुनाव पङ्क्तियाँ

सुधार की आवश्यकता
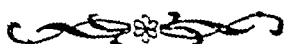
आजकल कानूनों का युग है। क्या बुराई और क्या भलाई, आजकल सब कुछ क़ानून के नाम पर और क़ानून द्वारा की जाती है। व्यवस्थापिका सभाएं इन क़ानूनों के घड़े जाने के कारखाने हैं। परन्तु चूंकि मानव समाज में इस समय बड़े २ भेद, उपभेद वर्तमान हैं, जिनके स्वार्थ एक दूसरे से पृथक् ही नहीं, एक दूसरे के विरुद्ध भी हैं, अतः इनमें सदा एक दल नहीं रह पाता। कभी किसी दल का वहुमत हो जाता है, कभी किसी का। इसीलिए इन व्यवस्थापिकाओं के वनाए क़ानूनों में भी वहुत कम स्थिरता होती है। इस चुनाव में आया हुआ दल एक क़ानून को वनाता है और दूसरे चुनाव में विजयी हुआ दूसरा दल उसे रद्द कर देता है।

यही कारण है कि लोग नित्य की इस उथल-पुथल से ऊव गए हैं और किसी ऐसे अस्त्र की खोज में हैं, जिसके द्वारा इस अस्थिर और अनिश्चित जीवन में यत्किञ्चित स्थिरता लाई जा सके। और वह उपाय इसके सिवाय और क्या हो सकता है कि शासन और व्यवस्था की बागडोर उस साधारण जनता या वहुमत के हाथ में दे दी जाय, जिसके हितों में समानता है।

इसका एक और भी कारण है। आखिर "राज्य" है क्या? जनता की सामूहिक व्यवस्था के लिये उसकी ओर से वनी और

बनाई हुई संस्था ही न? वैसी अवस्था में वह संस्था राष्ट्र की जनता के मनोनुकूल चलने वाली और उसकी इच्छाओं को ठीक व्यावहारिक रूप देनेवाली होनी चाहिये। तब ही वह जनता की प्रतिनिधि कही जा सकती है, अन्यथा नहीं। यदि जनता का प्रबल बहुमत किसी देश की व्यवस्थापिकाओं में अल्पमत में रहता है, तो यह निश्चित है कि ऐसी सरकार अपने को प्रजातन्त्र या अपनी प्रजा की सरकार कह कर संसार को धोखा देती है। ऐसी सरकार अधिक दिन तक जनता की विश्वासपात्र एवं श्रद्धाभाजन नहीं रह सकती। पार्टी के अनुशासन के नाम पर कोई सरकार या दल अपने व्यवस्थापिका के सदस्यों और उनके मस्तिष्क को भले ही गुलाम बना ले, परन्तु जनता की स्वतन्त्र विचारशक्ति को कोई सदा के लिये गुलाम नहीं बना सकता। वह आगे पीछे ऐसी सरकार के अनुशासन को भंग करेगी और अशान्ति को जन्म देगी। Gerry-mandering (शासनारूढ़ दल का अगले चुनाव में सफल होने के लिये मताधिकार और चुनाव-क्षेत्र आदि के सम्बन्ध में गुप्त चालें चलना—यथा चुनाव-क्षेत्रों का पुनर्विभाजनादि) और Dark Horses (किसी क्षेत्र में किसी एक दल का बहुमत न होने पर परस्पर विरोधी दल मिल कर समझौते द्वारा जिस किसी एक को खड़ा करें) उस समय कुछ काम नहीं आते। अस्तु,

अब हम प्रत्येक प्रकार की चुनाव-पद्धति और उसके गुण दोष संक्षेप से पाठकों के सामने रखते हैं।

सिंगल वोट (SINGLE VOTE)

इसका ध्येय था योग्यतम उम्मेदवार का सब वोटरों-मत-दाताओं के बहुमत से चुना जाना। साथ ही यह भी कि एक मतदाता को एक ही वोट देने का अधिकार होने से वह

ध्येय

उसका प्रयोग विशेष विवेक के साथ करे। केवल प्रसन्न करने के लिये किसी को न दे दे।

इस पद्धति में प्रत्येक मतदाता (वोटर) को एक ही मत किसी एक उम्मेदवार को देने का अधिकार होता है। यह सन् १९०० ई० में पहिले पहल जापान में प्रचलित किया गया था।

व्यावहारिक पद्धति

प्रारम्भ में यह कुछ लाभदायक साबित हुआ था। परन्तु आगे चल कर राजनैतिक मदारियों ने इसे और भी हानिकारक बना डाला। इसमें सन्देह नहीं कि यदि एक चुनाव क्षेत्र से दो ही उम्मेदवार खड़े हों और मतदाता अपने मत का मूल्य जानते हों, तो अधिकांश मत से अधिक योग्य व्यक्ति ही इस पद्धति से चुना जा सकता है और वह प्रजा के बहुमत का प्रतिनिधि हो सकता है, परन्तु आज तो चुनाव क्षेत्र ईमानदारी के अखाड़े नहीं हैं। आज तो समर्थ उम्मेदवार अपने पक्ष के वोटों की संख्या निश्चित कर शेप वोटों को विभाजित कर देने के लिये चाहे जितने फ़रज़ी उम्मेदवार भी खड़े कर देते हैं। उदाहरण के लिये मान लीजिये कि एक चुनाव क्षेत्र में एक धनिक वा सत्ताधीश के पक्षपाती २००० वोटर हैं और कुल क्षेत्र में १०००० वोटर हैं। ऐसी दशा में उक्त उम्मेदवार भिन्न भिन्न वोटरों के दल में लोकप्रिय ६–७ उम्मेदवार खड़े कर देता है। यदि मान लीजिये कि इसके फल स्वरूप सब के पाँच-पाँच सौ रुपये, जो फ़ीस के जमा कराए जाते हैं, जब्त हो जाँय तो भी तीन साढ़े तीन हजार रुपये का ही सट्टा (जूआ) होता है जो किसी सम्पन्न व्यक्ति के लिये कठिन नहीं है।

आलोचना

परिणाम यह होता है कि शेष सारे मत इतने उम्मेदवारों में बँट कर दो-दो हज़ार से कम संख्या में रह जाते हैं और धनिक उम्मेदवार अपने निश्चित वोटों से जीत जाता है। इस प्रकार यदि इन सब मतों को सच्चे भी मान लें तो भी वह जनता या मतदाताओं के बहुमत का प्रतिनिधि नहीं, केवल पंचमांश का प्रतिनिधि होता है। और यदि ये 'मत' रुपये के बल से वा अधिकारियों के प्रभाव, क़र्ज़, अहसान, जाति, धर्म या रिश्ते के दबाव द्वारा प्राप्त किये हुए हों, जैसा कि प्रायः होता है, तो वह किसी का भी प्रतिनिधि नहीं होता। वह केवल मक्कारी और धन का प्रतिनिधि होता है। और ऐसा प्रतिनिधि या ऐसे प्रतिनिधियों से बनी व्यवस्थापिका जनता के हितों की क्या रक्षा करेगी? बहुधा इसके फल से एक दल का—वह भी प्रजा पर अत्याचार करने वाले दल का—शासन दृढ़ होता है। कहीं कहीं इसे "सिंगल ट्रांसफरेब्ल वोट" भी कहा जाता है, परन्तु वह युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता।

सेकण्ड बैलट (SECOND BALLOT)

"सिंगल वोट" पद्धति के उपरोक्त दोष को दूर करने के लिये इस पद्धति का आविष्कार हुआ था। इस का प्रयोग फ्रांस, जर्मनी, इटली, आस्ट्रिया, बेलजियम आदि देशों में हो चुका है। इसके भिन्न भिन्न देशों में भिन्न २ रूप हैं। इसका मुख्य ध्येय यह है कि सफल उम्मेदवार मतदाताओं के बहुमत से ही चुना जाय।

ध्येय

इसकी सब से सरल पद्धति यह है कि प्रत्येक उम्मेदवार के लिए प्रत्येक मतदाता को दो बार दो जगह मत देना पड़ता है। पहला मत उसका मुख्य माना जाता है और दूसरा गौण। इस प्रकार दोनों बार के मत

व्यावहारिक पद्धति

मिलकर जिसके पक्ष में सबसे अधिक मत आ जाते हैं, वही उम्मेदवार चुना जाता है।

फ्रांस में उम्मेदवार को सफल होने के लिये यह आवश्यक होता है कि वह पहिले ही मतदान में बहुमत प्राप्त करे। अर्थात् यदि उस चुनाव क्षेत्र में १०००० वोट्स हों तो उसे ५००० से ऊपर पहले मत मिलने चाहियें। परन्तु यदि किसी उम्मेदवार को इतने मत न मिलें, तो दूसरे 'बैलट' में उसको औरों की अपेक्षा अधिक मत मिल जाना ही काफ़ी समझा जाता है।

परन्तु अनुभव से साबित हो चुका है कि यह पद्धति भी पहली पद्धति की तरह ही सदोष है। जहाँ कई उम्मेदवार एक ही 'सीट' के लिये खड़े हो जाते हैं, वहाँ यह पद्धति भी जनता के हित की रक्षा नहीं करती। जो घृणित चालें पहली पद्धति को दूषित बनाती हैं, वे ही इसे भी निकम्मी बना डालती हैं। पहली में तो व्यक्ति का ही पतन होता है। परन्तु इसमें तो दलों का भी पतन होता है। क्योंकि किसी उम्मेदवार को सफल बनाने के लिये कई दलों को मिलाना आवश्यक होता है और इसलिये दूसरे दलों से सहयोग करने के लिये प्रत्येक दल को किसी सीमा तक अपने सिद्धान्त छोड़ने पड़ते हैं। चुना हुआ व्यक्ति भी "सात मामाओं के भानजे" की तरह किसी भी दल का सच्चा प्रतिनिधि नहीं बन सकता। न वह अपने विवेक के इंगितानुसार वहां लोक-हित के लिये कुछ कर सकता है, न किसी खास दल के कार्य-क्रम के अनुसार। उसे दुबारा चुने जाने के लिये मतदाताओं का जो दल सब से अधिक संगठित हो—और इस युग में वह सम्पन्न वर्गों का ही हो सकता है—उसी का गुलाम बना रहना पड़ता है। इसीलिये लोग इस पद्धति को घृणार्ह मानने लगे हैं।

आलोचना

सिंगल ट्रांस्फ़रेब्ल वोट

(एकाकी हस्तान्तरित मत)

यह एक प्रकार से सेकण्ड बैलट का ही दूसरा रूप है। उपरोक्त पद्धति में जो दो २ बार चुनाव और अतिरिक्त व्यय तथा श्रम की झंझट पड़ती थी, उसे दूर करने के लिये ही इसका आविष्कार हुआ था। इसका उद्देश्य एक ही बार हुए चुनाव में "दूसरे बैलट' का कार्य पूरा कर लेना था।

ध्येय

इसको भी व्यावहारिक रूप देने की कई पद्धतियां हैं। सब से सरल पद्धति यह है कि जितने उम्मेदवार एक पद के लिये हों, उनमें से जिसे वह सबसे योग्य समझता हो उसे वह अपना पहला वोट देकर उसके सामने (१)—चिन्ह बना देगा एवं जिसे प्रथम उम्मेदवार के सर्वथा असफल होने की अवस्था में वांञ्छनीय समझे, उसका मत देकर उसके आगे (२) का चिन्ह बना देगा। इसी प्रकार और उम्मेदवारों के लिये करता जायगा।

व्यावहारिक पद्धति

इस प्रकार मत ले चुके जाने पर, जिस उम्मेद्वार के पक्ष में सब से कम मत आए हों, उसे असफल घोषित कर दिया जाता है और उसे मिले मत (२) के चिन्ह वाले मतों में सम्मिलित कर दिये जाते हैं। इसी क्रम से जिसे या जिन्हें सब से अधिक मत प्राप्त होते हैं, वह या उन्हें 'सफल हुआ' घोषित कर दिया जाता है।

यह पद्धति पहले पहल न्यूज़ीलैण्ड और न्यू साउथ वेल्स में, पहली पद्धति द्वारा होने वाले वोटों के विभाजन को रोकने के लिये प्रचलित की गई थी। परन्तु इससे वह उद्देश्य पूर्ण नहीं हुआ। क्योंकि प्रायः त्रिकोण-संघर्ष में एक दल को हराने को दूसरे दो दल मिल जाते थे। किसी सिद्धान्त

आलोचना

या जनहित का ध्यान नहीं रक्खा जाता था। और अनेक बार तो इसी उद्देश्य से दो दलों में विरोध तक करा दिया जाता था।

ALTERNATIVE VOTE (आलटर्नेटिव वोट)
(या हस्तान्तरित मत पद्धति)

इस का ध्येय थोड़े वोटों के मिलने पर भी ऊपर वर्णित चालों से किसी उम्मेदवार को सफल न होने देना है। इस ध्येय को यह एक सीमा तक पूर्ण भी करता है।

ध्येय

परन्तु वास्तव में यह "सिंगल ट्रांसफ़रेब्ल वोट" का ही दूसरा रूप या भेद है। अन्तर इतना ही है कि कहीं २ "सिंगल ट्रांसफरेब्ल वोट" एक ही दूसरे उम्मेदवार को दिया जा सकता है, परन्तु 'आलटर्नेटिव वोट' में यह सीमा नहीं है। इस पद्धति के अनुसार जिस चुनाव-क्षेत्र से जितने उम्मेदवार चुने जाने हों, उतने ही मत प्रत्येक मतदाता दे सकता है।

व्यवहार पद्धति

हस्तान्तरित मत पद्धति

इस पद्धति से ऐसे ही निर्वाचन-क्षेत्रों में काम लिया जाता है जहाँ से कई-कई प्रतिनिधियों का निर्वाचन होने वाला हो। अलग-अलग दलों के उम्मेदवार खड़े होते हैं। इस पद्धति से हर एक वोटर को यह बताने का मौका दिया जाता है कि वह खड़े हुए उम्मेदवारों में से सबसे अच्छा किसे समझता है और किन्हें दूसरे, तीसरे और चौथे आदि नम्बरों के योग्य। मतदाता जिस उम्मेदवार को सबसे अच्छा समझता है उसके नाम के आगे नम्बर १ लिख देता है, इसी तरह दूसरे उम्मेदवारों के नाम के आगे भी वह अपनी पसन्द के अनुसार २,३,४ आदि नम्बर लगा देता है।

पर्याप्त संख्या

इस पद्धति में एक बात यह भी समझ लेने लायक है कि चुनाव पर्याप्त संख्या से होता है, अर्थात् जितने प्रतिनिधि जिस क्षेत्र से चुने जाने जरूरी हों उनमें उस क्षेत्र के मत बराबर २ बाँट दिये जाते हैं। इस प्रकार बाँटने पर जो संख्या निकलती है, वह पर्याप्त संख्या मानी जाती है; यानी उतने वोट जिस उम्मेदवार को मिल जाँय वह चुन लिया जाता है। इस पद्धति को एक उदाहरण देकर हम और भी स्पष्ट कर देते हैं। मान लीजिये कि युक्तप्रांत से अखिल भारतीय महासमिति के लिए ५० सदस्यों का चुनाव होना है और प्रांत की ओर से चुने हुए प्रतिनिधियों की संख्या ५०० है, उस सूरत में ५०० को ५० से भाग देने पर पर्याप्त संख्या १० आवेगी। इस हिसाब से जिस उम्मेदवार को १० मत मिल जाँयेंगे वही चुन लिया जायगा।

विशेष लाभ इस पद्धति में यह है कि इसमें किसी मतदाता का 'मत' बेकार नहीं जाता क्योंकि एक उम्मेदवार को पर्याप्त संख्या से अधिक जो 'मत' मिलते हैं वे रद्द नहीं कर दिये जाते बल्कि दूसरे उम्मेदवारों को वह बाँट दिये जाते हैं। उदाहरण के लिये मान लीजिए कि हरिहर नाथ ने जिस उम्मेदवार को अपना मत दिया उसको दस मत पहिले ही मिल चुके हैं तब हरिहरनाथ का मत 'अतिरिक्त' मत गिना जायगा और वह उसके वोटों में जोड़ा जायगा, जिसके नाम पर उसने नम्बर २ लगाया है। अगर उसमें भी आवश्यकता न होगी तो ३रे, ४थे आदि जिसमें भी आवश्यकता समझी जावेगी उसी में जोड़ लिया जायेगा। यह प्रक्रिया उस वक्त तक बराबर चलती रहेगी जब तक कि पूरे सदस्य न चुन लिए जाँय।

दूसरा भेद ALTERNATIVE VOTE

दूसरा भेद इसका यह है कि २,३,४ आदि नम्बरों का ख़याल छोड़कर जितने अतिरिक्त मत बचते हैं, वे उन उम्मेदवारों को दे दिये जाते हैं जिनकी पर्याप्त संख्या पूरी होने में बहुत थोड़ी कमी रह जाती है।

दोष

इस प्रणाली में एक दोष तो यही है कि इसका उपयोग केवल अप्रत्यक्ष चुनाव में हो सकता है। दूसरा यह है कि यदि मत गिनने और बांटने वाले निष्पक्ष न हुए तो वे मतों को बांटने में काफ़ी गड़बड़ी कर सकते हैं। तीसरी खराबी यह है कि जो दल अधिक संगठित होगा और अपने मत समझ बूझ कर देगा वही इससे ज्यादा लाभ उठा सकता है। अज्ञान और असंगठित दल बहुमत वाला होकर भी हार खा जा सकता है। उदाहरण के लिए मान लीजिये कि विहार प्रांतिक कांग्रेस के कुल ६६ प्रतिनिधि हैं। इनमें ४० जमींदार हैं। और विहार प्रान्त को अखिल भारतीय महासमिति के लिए केवल १२ सदस्य चुनने हैं। उस सूरत में पर्याप्त संख्या ८ होगी। अब मान लीजिये कि जमींदार एका करके अपने सब मत अपने ही आदमियों को देता है और दूसरे प्रतिनिधियों से गौण अर्थात् दूसरे-तीसरे आदि नम्बरों के मत अपने आदमियों को दिला देता है तब क्या स्थिति होगी? इसे हम एक नक़शा देकर और भी स्पष्ट करे देते हैं:—

नाम उम्मेदवार	किस्म	अपने वोट	गौण	अपने गौण मत किसे दिये
१ प्रतापसिंह	जमींदार	६	२	२ गोविन्द
२ गिरवरसिंह	,,	६	३	२ हरीसिंह
३ रामसिंह	,,	६	२	३ गोविन्द
४ हरीसिंह	,,	६	१	४ मौहम्मदखाँ

नाम उम्मेदवार	किस्म	अपने वोट,	गौण,	अपने गौण मत किसे दिये
५ मौहम्मदखाँ	,,	४	३	
६ इस्माइलखाँ	,,	४	४	
७ गोबिन्दप्रसाद	,,	५	१	

नाम उम्मेदवार	किस्म	अपने वोट	गौण	अपने गौण वोट किसेदिये जमींदारों को,	व्यापारीको
१ जीवनलाल	कांग्रेस	४	४	२	२
२ हरस्वरूप	,,	,,	१	२	२
३ भोगीलाल	,,	,,	१	२	२
४ श्यामस्वरूप	,,	,,	१	२	१
५ हरगोबिन्द	,,	,,	१	१	१
६ बशीर	,,	,,	१	१	१
७ मुमताज़	,,	,,	१	१	१
१ हीरा	किसान सभा	५	३	१	१
२ गोबिन्द	,,	५	२	१	१
३ जग्गा	,,	५	२	१	१
४ गुलाब	,,	५	१	१	१
१ रामलाल	व्यापारी वर्ग	३	७	×	३ व्या०को
२ चोखेलाल	,,	२	४	×	२ ,,
३ छोटेलाल	,,	१	५	×	१ ,,
४ श्यौप्रसाद	,,	४	४	×	

इस प्रकार व्यापारी जमींदार वर्ग के तो १० आदमी चुन लिए जायँगे एवं कांग्रेस और किसानों का बहुमत होते हुए भी एक २ ही । प्रतिनिध चुना जायगा । कारण स्पष्ट है । व्यापारी और ज़मींदार वर्ग के लोगों ने अपने मुख्य और गौण सब 'मत' अपने ही उम्मेदवारों को दिये । परन्तु कांग्रेस और किसान सभा वालों ने प्रभाव या मुलाहिज़े में आकर अपने मत बांट दिये ।

फल इसका भी वही होता है, जो "सिंगल ट्रांस्फरेब्ल वोट" का।

आलोचना

हार जीत इसमें भी किसी सिद्धान्त या जनता के बहुमत पर नहीं, प्रत्युत राजनैतिक चालों पर निर्भर करती है। उदाहरण के लिए सन् १६२२ ईस्वी में इंग्लैंड के मज़दूर-दल को वोटिंग (मतदान) में तो अल्प मत मिला था, परन्तु "हाउस आफ़ कामन्स" में बहुमत मिल गया।

इसी प्रकार जब सन् १६१६ ई० में इस पद्धति का प्रयोग "आस्ट्रेलिया" की "सीनेट" के चुनाव में किया गया तो उसका परिणाम नीचे लिखे अनुसार आया:—

	वोट्स	सीट्स्
नेशनलिस्ट	८६०१५८	१७
मज़दूर और साम्यवादी	८१६८८६	१
किसान और स्वतंत्र	१७३२४६	०

पाठक देखेंगे कि मजदूर और साम्यवादी दल को प्राय: नेशनलिस्ट दल के बराबर ही मत मिले। फिर भी मजदूर और साम्यवादियों को एक ही स्थान मिला और नेशनलिस्टों को १७ मिल गए। कारण स्पष्ट है। नेशनलिस्टों में सब बड़े २ लोग थे। उनके मतदाताओं ने अपने दूसरे, तीसरे, चौथे आदि वोट भी उसी दल के लोगों को दिये। परन्तु ग़रीब वर्गों में से बहुतों ने बड़ों को भी ख़ुश रखने को अपने पहले वोट बाँट दिये। फलत: मज़दूरों के पक्ष में मत तो काफ़ी आ गए परन्तु असंगठित और गौण संख्या के होने से बेकार हो गए।

इन परिणामों से अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि ये पद्धतियाँ कितनी दूषित और त्रुटिपूर्ण हैं। फिर अगर मतदाताओं और उम्मेदवारों की योग्यता के बन्धन विशेष स्वार्थ दृष्टि से रक्खे

गए हों, तब तो कहना ही क्या ? उस अवस्था में तो ये पद्धतियां प्रसाद के स्थान पर स्राप बन जाती हैं।

THE CUMULATIVE VOTE
(दि क्युम्युलेटिव वोट या संचित मत)

ध्येय

इस पद्धति का ध्येय अल्पमत को संरक्षण या व्यवस्थापिकाओं में अपनी प्रधानता कर लेने का अवसर देना है। हमारे देश में भी बम्बई में इस का प्रयोग किया जा रहा है।

व्यावहारिक पद्धति

यह केवल उन्हीं चुनाव क्षेत्रों में उपयोग में लाया जा सकता है जहां सम्मिलित निर्वाचन प्रथा हो और साथ ही जहां एक ही क्षेत्र से कई सदस्य चुने जाते हों।

उदाहरण के लिए मान लीजिये कि बम्बई से ५ सदस्य असेम्बली के लिए चुने जाते हैं। ऐसी दशा में हरेक मतदाता को पांच वोट देने का अधिकार होगा। साथ ही इन वोटों को इकट्ठे या अलग २ देने का भी उसे अधिकार होगा। अर्थात् वह चाहे तो पांचों में से प्रत्येक को एक एक दे दे, चाहे एक ही को पांचों दे दे और चाहे किसी को एक और किसी को दो।

आलोचना

परन्तु इस पद्धति का यदि वास्तविक जनता को लाभ मिल सकता है, तो तभी मिल सकता है जब कि चुनाव जातियों और धर्मों के आधार पर न होकर, पेशों (धंधों) के आधार पर हो। क्योंकि आज जहां २ जाति या धर्म के आधार पर मतदान वा चुनाव होता है, वहां इस का फल उलटा ही देखा जाता है।

उदाहरण के लिये किसान और मजदूर अशिक्षित हैं और इसलिए भिन्न २ उम्मेदवारों की चिकनी चुपड़ी बातों में आकर वे अपने वोट उनमें बांट देते हैं। परन्तु पारसी, क्रिश्चियन,

ऐंग्लोइंडियन आदि शिक्षित वर्ग स्थिति को समझ कर अपने सब संचित वोट किसी एक को, या अपने २ एक २ उम्मेदवार को दे देते हैं। वैसी दशा में स्वभावतः बहुमत होते हुए भी किसान मजदूर हार जायँगे और ये अल्पमत वाले समूह जीत जायँगे।

धन के प्रलोभन, अनुचित प्रभाव आदि भी इस पद्धति पर असर कर ही सकते हैं। खास कर भारत जैसे देश में, जहां साधारण जनता का सब से बड़ा भाग अज्ञान गर्त में पड़ा है और उसका विरोधी भाग बहुत आगे बढ़ा हुआ है, अतः यह पद्धति औरों से अच्छी होते हुए भी अधिक लाभदायक नहीं हो सकती।

साथ ही इसके लिए चुनाव क्षेत्र भी काफ़ी बड़े २ होने चाहियें। क्योंकि छोटे क्षेत्र में यह दुष्प्रयत्नों को प्रोत्साहन दे सकती है। प्रत्येक आदमी के कई वोट्स होने और थोड़े ही मत-दाता होने से किसी सम्पन्न व्यक्ति में उन्हें खरीद लेने का लालच पैदा हो सकता है।

इस में कुछ और भी दोष हैं। उदाहरण के लिए विचारशील छोटे समूहों को अपनी सफलता के लिए इसमें यथासाध्य कम उम्मेदवार खड़े करने या होने देने का प्रयत्न करना पड़ता है, ताकि उनके मत बटें नहीं। दूसरी ओर प्रतिद्वन्दी किसी न किसी को खड़ा कर देने का प्रयत्न करते हैं। पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा और दलबन्दी को भी इससे काफ़ी प्रोत्साहन मिलता है। साथ ही कई बार किसी अधिक लोकप्रिय व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक मत मिल जाते हैं और इसी कारण कई दूसरे अच्छे उम्मेदवार भी सफलता प्राप्त करते २ रह जाते हैं। इस प्रकार एक ओर बहुत से मत व्यर्थ जाते हैं और दूसरी ओर देश कुछ सच्चे सेवकों की सेवा से वञ्चित रह जाता है।

कई बार तो प्रतिस्पर्द्धा अधिक बढ़ जाने पर किसी भी दल का प्राधान्य नहीं हो पाता और उसका लाभ सरकार उठा लेती है।

फिर सब से बड़ा दोष यह है कि यह प्रथा धनवानों को अपने दल संगठित करने और भिन्न २ प्रलोभनों द्वारा लोगों को गिराने की ओर सबसे अधिक प्रवृत्त करती है। वे नेशनेलिस्ट, लिबरल, स्वराजिस्ट आदि भिन्न-भिन्न नामों के नीचे अस्पष्ट ध्येय वाले बड़े-बड़े दल संगठित करते हैं और उसके बल पर स्थानीय लोगों के मत का प्रतिनिधित्व नहीं होने देते। नतीजा यह होता है कि प्रत्येक दल को अपना संगठन ऐसा ही करने की धुन सवार हो जाती है और फिर वे साधारण जनता को उल्लू बनाने के लिए नित्य नए नुस्खों का आविष्कार करते रहते हैं।

THE LIMITED VOTE SYSTEM
अथवा
(नियंत्रित मत-दान पद्धति)

ध्येय

इसका ध्येय "संचित मत-दान पद्धति" के दोषों को कम करना था।

व्यावहारिक पद्धति

इसका प्रयोग भी उन्हीं क्षेत्रों में होता है और हो सकता है, जहाँ एक ही क्षेत्र से सम्मिलित निर्वाचन द्वारा कई सदस्य चुने जाते हैं। इसके अनुसार प्रत्येक मतदाता को उस संख्या से कम वोट देने का अधिकार होता है, जितने कि उस क्षेत्र से सदस्य चुने जाते हैं। साथ ही वह उन मतों में से एक उम्मेदवार को केवल एक ही मत दे सकता है, सब इकट्ठे या एक से अधिक नहीं दे सकता।

आलोचना

इसमें सन्देह नहीं कि इस पद्धति के कारण बहुमत सब की सब जगहों (सीट्स्) पर क़ब्ज़ा नहीं कर सकता। प्रत्येक विचार के लोग किसी न किसी रूप में चुन लिये जाते हैं। किंतु शेष दोषों को दूर करने में यह भी असमर्थ है। हाँ, इसमें चुने हुए व्यक्ति को स्वतंत्रता काफ़ी रहती है।

THE PROPORTIONAL REPRESENTATION
(संख्यानुपातिक मतदान)

ध्येय

इस पद्धति का ध्येय उपरोक्त सब पद्धतियों के दोषों को दूर कर व्यवस्थापिकाओं में सच्चा लोकमत प्रतिबिम्बित हो, ऐसी स्थिति पैदा करना था। अब तक यह लोकप्रिय भी काफ़ी है और इसका काफ़ी देशों में प्रयोग हो रहा है।

इतिहास

यह तरीक़ा सब से पहिले सन् १८५५ ईस्वी में 'डेन्मार्क' में जारी किया गया था। सन् १८५७ में इसे "मि० थौमस" हरे ने प्रकाशित किया और सन् १८६१ से "मि० मिल" भी इसके समर्थक हो गए। फिर भी १६ वीं शताब्दी तक इसे बहुत कम देशों ने अपनाया था। तब तक डेन्मार्क में भी इसका नियन्त्रित प्रयोग ही होता था। किन्तु १८६० ई० के बाद, जब सभी देशों में प्रचलित मताधिकारों के विरुद्ध असन्तोष फैलने लगा तब इसे तेज़ी से अपनाया जाने लगा। पहले यह स्विस कैण्टन्स में प्रचलित हुआ और फिर बेल्जियम तथा जर्मनी की कुछ रियासतों में। इसके बाद फ्रांस, इटली एवं इंग्लैंड में इस का श्रीगणेश हुआ और आजकल यहाँ बंगाल की योरोपियन कान्स्टिटयूऐन्सी में भी प्रयोग में लाया जा रहा है।

वैसे तो इसके प्रायः ३०० भेद हैं। क्योंकि प्रत्येक देश की सरकार ने अपने २ यहां की स्थिति और अपनी मनोवृत्ति के अनुसार परिवर्त्तन परिवर्द्धन करके इसका प्रयोग किया है। परन्तु मूल रूप प्रायः सर्वत्र एकसा है। अर्थात् इसका आधार स्थान या वर्ग-विशेष न होकर राजनैतिक विचार माने जाते हैं। भिन्न २ नामों और ध्येयों वाले राजनैतिक व्यक्ति ही इसमें उम्मेदवार बन सकते हैं, किसी जातीय दल या वर्ग के प्रतिनिधि हो कर नहीं। उनमें से वोटर जिसके विचारों को उचित समझे उसे मत दे सकता है। प्रत्येक मतदाता किसी एक ही उम्मेदवार को एक मत दे सकता है। साथ ही चुनाव क्षेत्र बड़े २ बनाए जाते हैं और प्रत्येक क्षेत्र से कई सदस्य चुने जाते हैं। इससे प्रायः प्रत्येक विचार सरणी वाला वर्ग संगठित रूप से मत देकर अपना एक २ प्रतिनिधि भेज सकता है। कहीं २ प्रत्येक मतदाता को सब उम्मेदवारों की सूची दी जाती है, जिस पर वह जिसे पसन्द करे, उसके नाम के आगे (+) क्रौस का चिन्ह बना देता है। कहीं प्रत्येक राजनैतिक विचार सरणी के अनुगामी उम्मेदवारों के समूहों को मिले मत अलग २ गिने जाकर उनमें से प्रत्येक दल के अधिक मत के भागी उम्मेदवार को सफल घोषित कर दिया जाता है। इस प्रकार प्रायः सब राजनैतिक दलों का शासन में प्रतिनिधित्व हो जाता है। उम्मेदवार के लिए यह भी आवश्यक नहीं है कि वह उसी जिले का रहने वाला हो, जहाँ से कि वह चुना जायगा।

व्यावहारिक पद्धति

इस पद्धति की ओर योरोपीय देशों के राजनीतिज्ञों का विशेष आकर्षण है। हमारे देश के भी कुछ नरमदली नीतिज्ञों ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है। परन्तु हमें इसमें उतनी विशेषताएँ नहीं दिखाई देतीं। न ही यह त्रुटि-विहीन कही जा

आलोचना

सकती है। इसकी विशेषता यह बताई जाती है कि इससे दलबंदी कम होगी और दूषित प्रलोभनों आदि का मार्ग बन्द होगा।

इसमें सन्देह नहीं कि यह जाति, धर्म आदि के स्थान पर राजनैतिक विचारों को चुनाव का आधार बनाती है और इस अंश में औरों से उत्कृष्ट कही जा सकती है। परन्तु इतने ही से तो चुनाव पद्धति के सारे दोष नहीं मिट जाते। उम्मेदवार चाहे किसी जाति या समूह विशेष की तरफ़ से खड़ा न हो, मत-दाताओं के तो दल बनाए ही जा सकते हैं और स्वार्थ-वश बनाए जायंगे। अन्तर इतना ही होगा कि वे जाति या धर्म के नाम पर न बनाए जाकर राजनैतिक विचार के नाम पर बनाए जायँगे।

एक और दोष भी ध्यान में रखने योग्य है। आजकल की राजनीति सत्य से उतनी ही दूर रहती है, जितना दक्षिणी ध्रुव से उत्तरी ध्रुव। हम दिन रात देखते हैं कि राजनैतिक चुनावों में बहुरूपियापन की भरमार रहती है। इस अखाड़े में खेलने वाले अधिकांश खिलाड़ियों का ध्येय, किसी सिद्धांत या विचार-सरणी की विजय की अपेक्षा, अपनी व्यक्तिगत विजय ही अधिक होता है। यही कारण है कि एक व्यक्ति पहले कांग्रेस की ओर से खड़ा होने को उत्सुक होता है, परन्तु यदि किसी कारणवश उसे उसमें स्थान नहीं मिला तो दूसरे दिन "नेशनलिस्ट पार्टी" में जा घुसता है और फिर वहां भी स्थान न मिला, तो 'लिबरल दल' में दौड़ लगाता दिखाई देता है। इसी तरह अनेक 'नरम-दली' समय २ पर कांग्रेस का लेबल लगा लेते हैं और कितने ही स्वराजिस्ट चुनाव के बाद नरमदल या किसी अन्य दल में जा घुसते हैं।

यही क्यों, पिछले दिनों जो कांग्रेस साम्यवादी दल की धूम मची थी, उस समय के साम्यवादी बनने वालों की ही सूची

उठा कर देख ली जाय। उन में काफ़ी संख्या ऐसे लोगों की दिखाई देगी, जो अवसर आने पर फ्रांस के 'रोब्सपीयरे' की तरह साम्यवादियों को फांसी पर लटकाने में सब से ज्यादा बाज़ी मार ले जायँगे।

छोटे क्षेत्रों में भी इस मनोवृत्ति के नित्य दृश्य देखे जाते हैं। एक उपदेशक सनातन धर्म सभा से छूट कर आर्यसमाज में नौकरी मिलते ही कट्टर आर्यसमाजी बन जाता है और आर्य-समाज का एक नेता या आचार्य बनने वाला व्यक्ति, घर में कट्टर सनातनी के बराबर छूतछात रखता दिखाई देता है।

ऐसी स्थिति में केवल राजनैतिक विचारों के आधार पर खड़े होने के कारण जनता किसी का अधिक दिन विश्वास करती जाय, और साथ ही खड़ा होने वाला व्यक्ति वास्तव में वैसा ही आचरण करेगा, जैसा कि वह कहता है, ऐसा निश्चय किसी को होना अशक्य सा है। फिर जब इस आधार पर चुनाव-क्षेत्र या जिले से बाहर का व्यक्ति भी खड़ा हो सके, तब तो इस धोखे से बचने के साधन जनता के लिये और भी कम हो जाते हैं। क्योंकि अपने सामने या आस-पास रहने वाले लोगों से तो प्रत्येक व्यक्ति परिचित होता है। वे यदि अपने विचारों को कृत्रिम जामा पहना कर जनता को धोखा देना चाहें, तो वह उसे पहचान जा सकती है। परन्तु यदि खड़ा होने वाला व्यक्ति दूरस्थ अंचल का है, तो उसके बारे में सुनी सुनाई बातों पर निर्भर रहने के अतिरिक्त मतदाता के लिये और कोई मार्ग ही नहीं रह जाता।

रहा सुने हुए ज्ञान का, सो उसकी स्थिति स्पष्ट है। आज प्रचार द्वारा कौन से दैत्य देवता नहीं बनाए जाते और कौन से देवता राक्षसों की श्रेणी में नहीं बिठा दिये जाते? इसी स्थिति की बदौलत मुसोलिनी और हिटलर करोड़ों के देवता बने

हुए हैं या नहीं ? और आज हमारे देश के चुनावों में क्या होता है ? क्या अपने अपने उम्मीदवारों के सच्चे गुण दोष उनके पृष्ठ पोषकों द्वारा, जनता के सामने ज्यों के त्यों रक्खे जाते हैं ?

इसके अतिरिक्त जितनी बुराइयों के लिये दूसरी चुनाव पद्धतियों में गुञ्जाइश है, उतनी ही के लिये इसमें भी है। इसमें भी बुद्धिशील दल, प्रगट रूप से दल के नाम पर न सही, अप्रत्यक्ष रूप अपने आदमियों को खड़े कर सकते हैं। प्रचार द्वारा उन्हें देवता का स्थान दे सकते हैं, वोट ख़रीद सकते हैं और अन्य प्रभावों का उपयोग भी कर सकते हैं।

रहा राजनैतिक विचारों के आधार का प्रश्न, सो अवश्य ही वह सम्प्रदायवाद से एक सीमा तक राजनीति को मुक्त करता है, परन्तु बुराई की जड़ तक उसकी भी पहुँच नहीं होती। क्योंकि आज जिन देशों में सम्प्रदायवाद राजनैतिक द्वन्दों का आधार नहीं है, वहाँ भी तो इससे कोई मौलिक लाभ नहीं हुआ है। उन देशों में भी और हमारे देश में भी राजनैतिक दल हैं ही। लिबरल, इण्डिपेण्डेट्स्, नेशनलिस्ट, स्वराजिस्ट, रिस्पोंसिविस्ट, मजदूर दली—सब राजनैतिक दल ही तो हैं। परन्तु इनके व्यावहारिक कार्यों में साधारण जनता के व्यापक हितों की दृष्टि से क्या अन्तर होता है ? यदि उनके कार्यों के खातों की जाँच की जाय तो पता लगेगा कि व्यावहारिक रूप से उन सब के द्वारा केवल उच्च वर्ग को ही सर्वाधिक लाभ पहुँचा है और अशिक्षित जनता को वास्तविक राजनैतिक ज्ञान से वञ्चित रखने के षड्यन्त्र में वे सब एक हैं। अतः मि० Renouvier का यह कहना ठीक ही है कि "इस पद्धति की बदौलत नए-नए राजनैतिक दल और उन के द्वारा जनता को धोखे में डालने वाले नए-नए सिद्धांत वाक्य ही बढ़ेंगे। परिणाम में विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा।"

फिर आखिर चुनाव का ध्येय क्या है ? 'वर्नार्डशा' के शब्दों में कहें तो "जनसत्ता स्थापित करने की पहली सीढ़ी व्यवस्थापिकाओं में सब समूहों के हितों का उनकी संख्या के अनुसार प्रतिनिधित्व है।" समूह का हित वास्तव में उसके आर्थिक हित के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? मालियों और कुँजड़ों के समूहों का सम्मिलित और सबसे बड़ा हित उनके अपने व्यवसाय की उन्नति एवं उसे संरक्षण मिलना है और यह किसी लिबरल या डेमोक्रैट के द्वारा नहीं हो सकता।

आखिर एकतंत्री सत्ता दुनियाँ से क्यों उठाई जा रही है ? इसीलिये न, कि वह शासन द्वारा सब समूहों के हितों की रक्षा नहीं कर सकती। यह उसके लिये है भी अशक्य ? प्रत्येक समूह अपने लिये आवश्यक और व्यावहारिक संरक्षण स्वयं ही अधिक जान सकता है। एक पंसारी यह नहीं जान सकता कि वकीलों एवं वकालत की उन्नति के लिए किन-किन बातों की आवश्यकता है ?

ऐसी अवस्था में यदि इस पद्धति से जनता को कुछ तात्त्विक लाभ हो सकता है, तो तभी, जबकि चुनाव और प्रतिनिधित्व का आधार राजनैतिक विचारों से पहले विभिन्न धन्धों और पेशों को बनाया जाय।

वास्तव में लोगों में सच्ची राजनैतिक बुद्धि और राष्ट्रीयता जाग्रत करने का उपाय यही है। चूँकि किसी भी धन्धे को किसी एक ही जाति या धर्म के मानने वाले व्यक्ति नहीं करते। अतः एक धंधा करने वाले विभिन्न धर्मों और जातियों के लोगों को अपने स्वार्थ के लिए ही, ऐसा होने पर अपना एक समूह बना लेना पड़ेगा और धीरे धीरे अन्य समान हित रखने वाले समूहों से मिल कर यही एक विशेप राजनैतिक विचार सरणी वाले दल में परिणत हो जायगा। और चूँकि इस प्रकार बने हुए राजनैतिक दलों का विकास वैज्ञानिक होगा, अतः उसमें धोखेधड़ी की गुञ्जायश प्रायः सर्वथा नगण्य हो जायगी।

जनता की सत्ता

जनता की सत्ता

ऊपर के अध्यायों में दिये विवेचन से पाठक समझ गये होंगे कि आधुनिक चुनाव पद्धतियों के दोषों का प्रश्न उसके जन्म-काल से ही उपस्थित रहा है। उन्हें दूर करने के प्रयत्न भी होते रहे हैं, परन्तु सफलता बहुत कम मिली है।

कारण स्पष्ट है। एक ओर जनसत्ता की भावना प्रबल होती जा रही है। साधारण से साधारण जन-समूहों में यह विचार पहुँच चुका है कि शासन-यन्त्र उनकी वस्तु है। और आज तो शासक भी इस बात को मानने लगे हैं। कहना व्यर्थ है कि उनकी यह मान्यता, उन लाखों बलिदानों का ही फल है, जो प्रत्येक देश में स्वाधीनता के सच्चे पुजारी युवकों ने किये हैं। परन्तु जिन समूहों और व्यक्तियों में राज्य-सत्ता का मोह गहरी जड़ पकड़ चुका है, वे केवल स्थिति से विवश होकर ही इसे मानने लगे हैं। हृदय से वे अभी अपनी वर्तमान स्थिति को बदलने के लिये तैयार नहीं हैं। इसीलिए जिस प्रकार विवश होकर धीरे-धीरे हज़ारों वर्षों में, चींटी की चाल से—आगे बढ़ते हुए उन्होंने इस जनसत्ता के सिद्धान्त को स्वीकार किया है, उसी विवशता और उसी धीमी गति के साथ वे इस ओर आगे पैर बढ़ाते हैं।

दूसरी ओर समाज में आर्थिक भेदभाव इतना अधिक बढ़ गया है, ज्ञान का बटवारा इतनी असमानता के साथ हो चुका है और शक्ति के पलड़े इतने हल्के एवं भारी हो गये हैं कि इन सब बातों के बीच के अन्तर को आज सामञ्जस्य पर लाना एक असाध्य कार्य है। सामञ्जस्य पर लाने की चेष्टा भी नहीं होती। जिस ओर से होती है, उस ओर ज्ञान, धन, शक्ति, संगठन सब का अभाव सा है। जिधर से नहीं होती और उसका विरोध किया जाता है उधर ज्ञान, शक्ति, साधन, अर्थ और संगठन आदि सब कुछ हैं। इसी लिये चेष्टा यह की जा रही है कि सब अपने अपने स्थान पर जैसे हैं, वैसे ही बने रहें और साथ ही जनसत्ता का नाटक भी पूरा कर दिया जाय। भेड़िया, भेड़िया ही बना रहे और बकरी, बकरी ही, परन्तु फिर भी दोनों साथ साथ रह सकें और एक दूसरे को हानि न पहुँचावें।

परन्तु यह असाध्य-साधन की चेष्टा है। भेड़िया जब तक घास खाना न सीखे और बकरी को अभक्ष्य न मान ले, तब तक उनका साथ किसी 'सरकस' में ही हो सकता है, अन्यथा नहीं।

हां, भेड़ियों के बच्चे निरामिष भोजी बनाए जा सकते हैं। आख़िर अपनी प्राकृत अवस्था में कुत्ते, बिल्ली आदि भी तो आमिष भोजी ही थे। परन्तु वे बनाए जा सकते हैं तभी, जब वे वैसी ही स्थिति में पैदा हों और पोषित किये जांय। और वह स्थिति तब ही आ सकती है, जब कि एक बार शासन बकरियों के हाथों में आ जाय। आख़िर बौद्ध लोग भी अनेक आमिष-भोजी समूहों को तब ही निरामिष भोजी बना सके थे, जब शासन-यन्त्र उनके हाथ में आगया था।

ऐसी दशा में उपरोक्त मनोवृत्ति को सामने रखते हुए वास्तविक जन-सत्ता का स्वप्न देखना तो मृग-मरीचिका से प्यास

बुझाने की चेष्टा करना है। हां, अधिक से अधिक, जन-सत्ता का मार्ग कुछ परिष्कृत करने और साथ ही भेड़ियों को भी क्रांति द्वारा नष्ट करने की नौबत कुछ दिनों और न आने देने के लिये शासन यन्त्र को एक 'सरकस' की शक़्ल दी जा सकती है। इससे दोनों को लाभ हो सकता है। एक ओर दिन रात अपनी अपनी स्थिति के लिये जो संघर्ष हो रहा है और जिसकी बदौलत ही ये सारे सुधार विफल होते जा रहे हैं, उसमें बहुत कुछ कमी आ जायगी और दूसरी ओर शासकों एवं सम्पन्न वर्गों की आयु भी काफी बढ़ जायगी। यही क्यों, मौत के ख़तरे से वे बाहर से हो जायँगे।

जनसत्ता और प्रतिनिधि सत्ता

किन्तु इस प्रश्न पर विचार करने के पहले हमें जनसत्ता और प्रतिनिधि सत्ता के बीच के भेद को समझ लेना चाहिए। बहुधा लोग अंग्रेज़ी के शब्द Democracy और वर्तमान प्रतिनिधि-सत्तात्मक (जिनमें जिस दलका बहुमत हो, उसके हाथ में शासन रहता है) प्रजातंत्रों, जिन्हें Oligarchy भी कहते हैं, का एक ही रूप मानते और बताने लगते हैं। परन्तु यह भूल है। डैमोक्रेसी शब्द यूनानी भाषा से अंग्रेज़ी में आया है और इसका वास्तविक अर्थ है जन-साधारण-ग़रीबों के प्रबल बहुमत का शासन। यूनानी भाषा में Demos शब्द का वही अर्थ है, जो अंग्रेज़ी में Masses (मासेज़) शब्द का है। आज हम उसका अर्थ अधिक से अधिक खींचतान कर करें, तो ग़रीब-अमीर सबका सम्मिलित-शासन कर सकते हैं।

ऐसी दशा में 'डैमोक्रैसी' शब्द तभी चरितार्थ होता है, जब कि शासन विधान की कम से कम सर्वोच्च अदालत सर्व साधारण जनता हो।

असमानताओं का संघर्ष

इन बातों के साथ एक और बात ध्यान में रखने योग्य है। वह यह कि यद्यपि आजकल के सभ्य संसार ने भावना की समानता को मान लिया है। वह मानता है कि जनता चाहे शिक्षित हो या अशिक्षित, वह राज्य सत्ता की जननी और स्वामिनी है। इसी लिये अनेक देशों में सर्वसाधारण को, जिसमें सब से अधिक भाग अशिक्षित जनता का होता है, शासन करने वाले और शासन यंत्र के लिए विधान बनाने वाले व्यक्ति चुनने का अधिकार दे दिया गया है। अर्थात् यह मान लिया गया है कि एक अशिक्षित नागरिक भी शासकों को चुनने के लिये उतना ही योग्य है, जितना कि एक उच्च शिक्षित। इस प्रकार इस मामले में सब का समान दरजा है।

परन्तु व्यावहारिक अर्थात् साम्पत्तिक वा आर्थिक समानता को स्थान देने और स्वीकार करने में हर जगह आनाकानी की जा रही है। इस में संदेह नहीं कि इस बात की न्याय्यता किसी युक्ति से सिद्ध नहीं की जा सकती। जनता ने चुनावों पर दिये अपने फ़ैसलों के द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि उसमें विवेक पूर्वक काम और चुनाव करने की योग्यता है। इस प्रकार उसने शासकों की कुछ शताब्दियों पहले दी जाने वाली इस दलील को सर्वथा खोखली साबित कर दिया है कि शासन सम्बंधी कामों की बुद्धि और योग्यता केवल शासक वर्ग में ही होती है। ऐसी दशा में, जो व्यक्ति योग्य शासक या क़ानून बनाने वाला चुन सकता है या Referendom में क़ानून के ठीक या ग़लत होने का फैसला दे सकता है, वह शासन और क़ानून बनाने के लिए अयोग्य कैसे ठहराया जा सकता है। यह वास्तव में

तर्क का मज़ाक़ उड़ाना है कि एक आदमी जिस विषय पर मत देने को योग्य है, उसी को स्वयं करने में अयोग्य है।

इसके अतिरिक्त मनुष्य में समानता की भावना सब से प्रमुख है। एक शताब्दी से अधिक समय हुआ जब Tocqueville ने कहा था कि "मनुष्य को स्वतंत्रता से भी समानता अधिक प्रिय है, इसलिए यदि मनुष्य की इस भावना को सन्तुष्ट कर दिया जाय, तो शान्तिपूर्वक एक ऐसे राष्ट्र के बने रहने की कल्पना की जा सकती है, जिसमें साम्पत्तिक समानता अधिक दूर तक न हो।"

REFERENDUM अर्थात्
(क़ानूनों पर लोकमत लेने की पद्धति)
जनता की अन्तिम स्वीकृति

उस समय की यह मनस्थिति मनुष्यों में आज भी मौजूद है। यद्यपि वास्तव में बिना साम्पत्तिक समानताके राजनैतिक वा सामाजिक समानता का विशेष मूल्य नहीं होता। फिर भी हम देखते हैं कि जहां मनुष्य को शासन में समानता मिल जाती है, वहां वह साम्पत्तिक असमानता के अन्याय को भी काफ़ी सह लेता है। स्विटजरलेंड आदि देशों में यही नुस्खा वहां की सामाजिक व्यवस्था के लिए अमोघ कवच का काम कर रहा है। इसी प्रकार प्रायः शासन मे समानता मिलने के कारण ही, हम देखते हैं कि, उन वर्गों के भाग भी शासक-समूह के साथ मिल कर एक हो जाते हैं, जिन्हें राजनैतिक समानता प्राप्त नहीं होती। इसी अस्त्र का उपयोग कर सत्तावादी समाज में नित्य नए दल खड़े करते रहते हैं।

इस प्रकार व्यावहारिक जीवन-नियमों से स्पष्ट है कि प्रवाह में बहकर, या कृत्रिम उपायों से पैदा किये संस्कारों के वशीभूत

कुछ बातों में मनुष्य भले ही स्वतंत्रता, धर्म आदि को सर्वोपरि मानता रहे और समानता के प्रश्न को दूसरे दरजे पर रखता रहे, परन्तु व्यवहार में, उसमें समानता की आकांक्षा और भावना ही सब से प्रबल होती है।

फिर जब, जिन लोगों को मताधिकार दिया गया है, उन ही की पसन्द के प्रतिनिधि व्यवस्थापिकाओं में लेने की न्याय्यता स्वीकार कर ली गई है, तब उम्मेदवारों की योग्यता-विशेषतः साम्पत्तिक योग्यता-नियत करने का क्या अर्थ? मतदाता से यह क्यों कहा जाय कि वह अमुक श्रेणी के या इन्कमटैक्स देने वाले व्यक्तियों में से ही किसी को चुन सकता है। शिक्षा और इन्कमटैक्स या सम्पत्ति का तो कुछ अविच्छेद सम्बंध है ही नहीं। एक धनपति महामूर्ख हो सकता है और एक दरिद्र अच्छे से अच्छा जन सेवक। फिर यदि मतदाता एक दरिद्र या अपने समूह के किसी गरीब को ही अपना प्रतिनिधि चुनना चाहें, तो इसकी उन्हें स्वतंत्रता क्यों न हो?

परन्तु जैसा कि हम बता चुके हैं, इन अधिकारों को कोई भी सत्ता प्रसन्नता से नहीं दे रहे है। इसी लिए भिन्न भिन्न उपायों से प्रयत्न यह किया जाता है कि मताधिकार जनता को दे भी दिया जाय और व्यक्ति भी ऐसे चुनवा लिये जांय, जो सर्वथा जनता की पसन्द के या उसके वर्ग के न हों। इस का परिणाम स्वभावतः यही होता रहा है कि व्यवस्थापिकाओं में जो प्रतिनिधि पहुँचते थे और पहुँचते हैं, उनमें बहुत कम ऐसे होते थे एवं होते हैं, जो वास्तव में वहां अपने चुनने वालों के मतानुसार काम करते हैं। वे प्रायः एक बार चुन लिये जाने के बाद अपने सब इक़रारों और जनता के दिये हुए कार्यक्रमों को भूल जाते हैं। इतना ही नहीं, वहां बहुत से, धनिकों से रिश्वत

ले ले कर उनके अनुकूल क़ानून बना देते। और फिर नैतिकता की सीमा भंग होने पर तो उस के विकास की सीमा नहीं रहती। मनुष्य विकारों का पुतला है ही। अतः एक की देखा देखी दूसरे में यह छूत का रोग बड़ी तीव्र गति से फैलता है।

उधर जब व्यवस्थापिकाओं की आयु समाप्त होने पर आती, तब चालाक प्रतिनिधि लोग जनता के हित का कोई न कोई ऐस प्रश्न उठा लेते, जिसे केन्द्रीय सरकार स्वीकार न करती।

बस इसी का वे बवण्डर बना डालते। और साधारण जनता की स्मरण-शक्ति तो वैसे ही क्षणस्थायी होती है, अतः वह भी थोड़ा आन्दोलन होते ही वायुमण्डल के प्रवाह में बह निकलती। वह उन्हीं धोखेबाज़ प्रतिनिधियों को सच्चे हितू मान बैठती और फिर उनकी प्रशंसा करने लगती ।

दूसरी ओर,और सदस्य लोग ऐसे ही किसी प्रश्न को लेकर एक दल बना लेते। घोषणाऐं करते कि इस बार हम बहुमत बना कर इसी बात को स्वीकृत करावेंगे। जनता से अपील करते कि बस इसी दल के सदस्यों को चुनना ताकि सरकार समझ ले कि जनता अमुक क़ानून या सुधार के पक्ष में थी। भिन्न-भिन्न प्रचार साधनों द्वारा इसके लिए जनता को उत्तेजित किया जाता। फल यह होता कि जनता फिर भुलावे में आ जाती और ये लोग फिर चुन लिये जाते। शताब्दियों से प्रतिनिधि संस्थाओं में यही खेल होता रहा है और आज भी अनेक देशों में होता है।

इस प्रकार व्यवस्थापिका सभाऐं कदाचित ही लोकमत का सच्चा प्रतिबिम्ब प्रमाणित होतीं। इसी लिये अन्त में जनता के कुछ सच्चे प्रतिनिधियों ने यह आन्दोलन शुरू किया कि व्यवस्थापिका के स्वीकृत क़ानूनों पर अन्तिम निर्णय लोकमत द्वारा लिया जाना चाहिये।

इस आन्दोलन का जन्म आधुनिक युग में सब से पहले 'स्विटजरलैंड' में हुआ। उधर जनता में व्यवस्थापिकाओं के प्रति घोर अविश्वास उत्पन्न हो ही चुका था, अतः यह आन्दोलन बहुत जल्दी प्रबल बन गया और अन्त में सन् १९१८ ई० में वहाँ नियन्त्रित रूप में "रिफ़ेरेण्डम्" की पद्धति प्रचलित हो गई।

इतिहास

सन् १८१६ में इस पद्धति का रूप भी वैसा ही संकुचित था, जैसा आरम्भ में और सुधारों का रहता आया है। अर्थात् व्यवस्थापिका जिस क़ानून पर लोकमत लेना आवश्यक समझती, उसी पर लोकमत लिया जाता था, औरों पर नहीं।

इसका परिणाम वही हुआ जो हो सकता था। अर्थात् व्यवस्थापिका ऐसे ही क़ानूनों पर लोकमत लेती, जिन पर उसमें और गवर्नर में मतभेद होता और जिनके लिए उन्हें गवर्नर के असन्तोष की बला अपने सिर से जनता के सिर पर टालनी होती अथवा जिन पर तीव्र मतभेद होने के कारण यह आशंका होती कि कुछ सदस्य इस प्रश्न को जनता के सामने उठावेंगे। ऐसी अवस्था में स्वभावतः इससे जनता की वह आकांक्षा पूर्ण नहीं हुई जिसे पूरी करने को उसने इसे स्वीकार कराया था। राजनैतिक चालों ने उसके रूप को निरुपयोगी बना दिया।

अन्त में इस संकुचितता के विरुद्ध आन्दोलन शुरू हुआ। जनता ने "रिफ़ेरेण्डम" को व्यापक बनाने पर ज़ोर देना शुरू किया और कहा कि रिफ़ेरेण्डम की मांग करने का अधिकार जनता के हाथ में होना चाहिये। उसे हक़ होना चाहिये कि वह वरिष्ठ सत्ता की तरह जिस क़ानून को चाहे अपनी राय के लिये पेश करने की आज्ञा व्यवस्थापिका को दे सके।

फल यह हुआ कि क्रमशः शासकों को अपना शिकंजा ढीला करना पड़ा एवं भिन्न-भिन्न देशों और राज्यों में कुछ परिवर्तन के साथ यह अधिकार जनता को मिल गया। उनमें से कुछ उदाहरण पाठकों की जानकारी के लिये यहाँ दिये जाते हैं:—

अमेरिका—के कुछ राज्यों में व्यवस्थापिका और प्रजा दोनों को "रिफ़ैरैण्डम्" का आह्वान करने का अधिकार है। अर्थात् व्यवस्थापिका तो जिस क़ानून या उसके अंश पर लोक-मत लेना चाहे, ले ही सकती है, परन्तु जनता में से भी किसी राज्य में से ४०००, किसी में से ३००० (जैसा जहाँ नियम है) मतदाता मिलकर चाहे जिस क़ानून के बारे में "रिफ़ैरैण्डम्" की मांग कर सकते हैं। कुछ राज्यों में (जैसे Zug, St. Gall etc.) व्यवस्थापिका के अल्पमत को भी "रिफ़ैरेण्डम्" की मांग करने का अधिकार होता है। वहां यदि एक तिहाई सदस्यों के हस्ताक्षरों से मांग की जाय, तो सरकार को उसे मानना ही पड़ता है।

जर्मनी--में मतदाताओं की मांग पर भी रिफ़रैण्डम् लिया जाता था और यदि दोनों व्यवस्थापिकाओं में किसी क़ानून पर मतभेद खड़ा हो जाता, अथवा फेडेरेशन के प्रेसिडेण्ट का उससे मतभेद होता, तो वह भी स्वेच्छा से ऐसा कर सकता था। इस प्रकार जनता का मांगा हुआ "रिफ़ैरेण्डम्" "Referendum ordered by the Petition of the people" (जनता के आवेदन पत्र द्वारा आदेशित रिफ़ैरेण्डम्) कहलाता है. और प्रेसीडेण्ट द्वारा निश्चित किया हुआ "Referendum called by the president" (सभापति द्वारा आहूत रिफ़ै-रेण्डम्) कहलाता है।

"आर्थिक रिफ़रेण्डम्"

यह इसका दूसरा भेद है। इसके अनुसार व्यवस्थापिकाओं की बजट, खर्च, कर्ज आदि मंजूर करने की शक्ति नियन्त्रित करदी जाती है। उदाहरण के लिये Aargau Canton में दस लाख फ्रांक से अधिक का क़र्ज़ बिना जनता की स्वीकृति के न तो सरकार ले सकती है, न व्यवस्थापिकाऐं स्वीकार कर सकती हैं। इसी प्रकार कहीं-कहीं बजट की सीमा बँधी हुई है। उससे अधिक किसी वर्ष में खर्च करना हो, तो वह जनता से स्वीकृति लिए बिना नहीं किया जा सकता। Berne Canton में तो बजट भी प्रति वर्ष उक्त पद्धति द्वारा जनता से मंजूर कराना पड़ता है।

"रिफ़रेण्डम" की दरख्वास्त पर भिन्न २ देशों व राज्यों में नीचे दिये हुए क्रम से मतदाताओं के हस्ताक्षर प्राप्त करने पड़ते हैं:—

जर्मनी	५%
अमेरिका के राज्य:—	
अर्कंसास	५%
कैलिफ़ोर्निया	५%
कोलोरैडो	५%
मेन और मेरीलैण्ड	१००००
मिसौरी	५%
मोण्टना	५%
नेब्रास्का	१०%
विस्कौन्सिन	१०%
व्योमिंग	२५%

स्विटजरलैंड	३००००
स्विस कैण्टन्स:—	
बसले	१०००
जेनेवा	३५००
ल्युसैरने	५०००
न्युशतेल	३०००
सेण्ट गाल	४०००
वौद	६०००
ज़ुग	५००

आम तौर पर बड़े प्रान्तों या राज्यों में ५% प्रतिशत और छोटे ज़िलों में १०% से लगा कर २५% तक मतदाताओं के हस्ताक्षर होने का नियम है।

इन सब पद्धतियों की बदौलत वहां के लोग भारी टैक्सों के बोझ से बहुत कुछ बच गए हैं। अब वहां की सरकारों को भी और व्यवस्थापिकाओं को भी खर्च करने में काफी सावधानी रखनी पड़ती है। यही नहीं, इसके फल से राजनैतिक घूंसखोरी के भी द्वार बहुत कुछ बन्द हो गए हैं।

THE ADVISORY REFERENDUM

ऐडवाइज़री रिफ़ैरेण्डम

यह इसका तीसरा भेद है। यह कुछ अनुभव के बाद प्रचलित किया गया है। जिस क़ानून पर जनता में तीव्र मतभेद होने की सम्भावना होती है, अथवा जिसके लिये यह आशंका होती है कि इस पर Referendum की मांग की जायगी, तो व्यवस्थापिका पहले ही उसके मुख्य सिद्धान्त आदि पर लोकमत ले लेती है। जब वह स्वीकृत हो जाता है, तब उसके आधार पर क़ानून बनाया जाता है।

आस्ट्रेलिया की विशेषता

आस्ट्रेलिया में भी रिफ़ैरेण्डम की पद्धति प्रचलित है। किन्तु वहाँ सार्वजनिक मताधिकार नहीं है। रिफ़ैरेण्डम भी सब कानूनों पर नहीं लिया जाता। हाँ, व्यवस्थापिका के प्रतिनिधियों की संख्या घटाने-बढ़ाने वाले, राज्यों की सीमा में परिवर्तन करने वाले और शासन-विधान को बदलने वाले क़ानूनों पर रिफ़ैरेण्डम लिया जाना अनिवार्य रक्खा गया है।

शेष क़ानूनों में जितने संशोधन होते हैं, वे व्यवस्थापिकाओं में स्वीकृत होने के बाद व्यवस्थापिकाओं को चुनने वाले मतदाताओं के सामने अन्तिम स्वीकृति के लिये रक्खे जाते हैं।

सारी जनता या म्यूनिसिपैलिटी तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड आदि के मतदाताओं को इन पर मत देने का अधिकार नहीं होता।

हाँ, यदि कोई संशोधन एक व्यवस्थापिका में दो बार स्वीकृत हो जाय और फिर भी दूसरी व्यवस्थापिका सहमत न हो, तो उस पर सार्वजनिक लोकमत लिया जाता है।

यदि प्रत्येक राज्य का बहुमत और सारे देश का सम्मिलित बहुमत—दोनों उसके पक्ष में हों तो वह क़ानून बन जाता है और गवर्नर जनरल के पास शाही मंजूरी प्राप्त करने के लिये भेज दिया जाता है। Parliamentary papers cd. 5778 & 5780 (2) Federal & Unified Constitutions, By A.P. Newton P. 357.

परन्तु यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि Referendum की पद्धति को केवल संघ-प्रजातंत्रों (Federated states or Republics) ने ही अपनाया है। स्विटज़रलैंड, अमेरिका, और आस्ट्रेलिया ही अब इसके प्रधान क्षेत्र हैं। जहां नियंत्रित राज्यसत्ता या दलगत शासन की प्रजातंत्र के नाम पर प्रधानता है, वहां इस पद्धति को स्थान नहीं मिल रहा है। कारण कि ऐसी सत्ताएं अभी लोकमत से शासित होने के दिन को जहां तक हो सके टालना चाहती हैं। फल यह है कि उन ही में सबसे अधिक असन्तोष भी दिखाई देता है।

इसका एक मुख्य कारण और भी है। संघ में प्रत्येक राज्य अपनी स्वतंत्रता क़ायम रखने को उत्सुक रहता है साथ ही वह अपने शासन को किसी साथी राज्य से कम उन्नत भी नहीं रखना चाहता। इसके विपरीत जिस प्रकार दो नाटक मंडलियां जब प्रतिस्पर्द्धा करती हैं, तब प्रत्येक दूसरी से अच्छा नाटक खेल कर जनता को अपनी ओर आकर्षित करना चाहती है, उसी

प्रकार इनमें से प्रत्येक राज्य उद्योगधन्धों में पूंजी लगाने वाले और भूमि की उवरंता बढ़ाने वाले जनसमूहों को आकर्षित करने के लिये अपने राज्य में अधिक सुविधाऐं बढ़ाने को उत्सुक रहता है।

तीसरा कारण इनका व्यापारिक एवं अन्य सब प्रकार का दिन रात का सम्बन्ध है। एक समान और देश भर के लोकमत के समर्थन से बने हुए क़ानूनों द्वारा शासित होने के कारण प्रत्येक राज्य की जनता उन्हें अपने ही समझती है। इस प्रकार अलग अलग राज्य होने पर भी उनमें ऐक्य एवं एक-राष्ट्रीयता की भावना बनी रहती है।

एक और सब से बड़ा लाभ इस पद्धति का इन राज्यों को यह है कि वे छोटे हों चाहे बड़े, अपनी रक्षा के प्रश्न से निश्चित रहते हैं; क्योंकि सारे देश की जनता स्वयं उनकी रक्षा के लिए सब कुछ करने को तैयार रहती है। स्वेच्छाचारी राज्यों की प्रजा की तरह वह यह नहीं सोचती कि:—

कोउ नृप होय हमें का हानी।
चेरी छाँड़ि न होउब रानी॥

वह तो स्वयं अपने को राज्य की शासक और इसलिये उसकी रक्षार्थ जिम्मेदार मानती है। यह 'रिफ़ैरेण्डम्' का ही प्रभाव है कि संसार में चारों ओर क्रांतियों और असंतोष का बोलबाला होते हुए भी स्विटजरलेण्ड, अमेरिका आदि में जहाँ जितना इस पद्धति का विकास है, वहाँ उतना ही अधिक शांति एवं सन्तोष का साम्राज्य है। यद्यपि वहाँ साम्यवादी शासन नहीं है, व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने की भी प्रथा है, फिर भी वहाँ न इतना असन्तोष है न इतना कष्टपूर्ण और दरिद्र

जीवन। 'रिफ़ैरेण्डम्' का अंकुश दोनों ही वर्गों को अपना-अपनी सीमा में रखता है।

यही क्यों, वह प्रत्येक संघ के सदस्य राज्य को भी दूसरे राज्य पर कुदृष्टि डालने से रोकने की सब से बड़ी मशीन है। देश भर की जनता से स्वीकृत होने के कारण कोई बड़े से बड़ा राज्य भी छोटे से छोटे राज्य के विधान की उपेक्षा नहीं कर सकता। उसे भी सब अपने बराबर का मानने को बाध्य हैं।

इसके साथ ही जिन देशों में Referendum की पद्धति जारी है, वहाँ कभी शासन-यन्त्र के बेकार होने की नौबत नहीं आती। यदि व्यवस्थापिकाओं में मतभेद हो तो जनता निर्णय दे देती है। इसी लिए इङ्गलैंड की जनता में भी इसके लिये आन्दोलन शुरू है। फ्रांस और इटली में तो इसका प्रयोग भी होने लगा है।

इस पद्धति के सम्बन्ध में सेंटगाल के विधान में कहे गये शब्द स्वर्णाक्षरों से लिखे जाने योग्य हैं। कहा गया है कि:—

"वरिष्ठ सत्ता, जो सब राजनैतिक अधिकारों की चालक-शक्ति है, सारे नागरिकों की सम्पत्ति है और इसलिये जनता को अधिकार है कि वह चाहे जिस क़ानून को स्वीकार करे और चाहे जिस क़ानून को अस्वीकार कर उसका प्रयोग में आना रोक दे"। (Deploige P. 71)

सफलता की कुंजी

सफलता की कुंजी

यह आज योरोप में भी सर्वमान्य बात है कि "रिफ़ैरेण्डम्" की पद्धति जनसत्ता, के भिन्न-भिन्न अङ्गों और जनता की स्वाधीनता एवं समानता की आकांक्षा को पूर्ण करने का सर्वप्रधान साधन है, परन्तु साथ ही इसकी सफलता बहुत कुछ इसके प्रयोग की उदारता पर है। संकीर्णता के साथ इसका प्रयोग विशेष लाभप्रद तो होता ही नहीं, हानिकारक भी हो सकता है।

आपत्तियाँ

कहना व्यर्थ है कि जब इस पद्धति का आविष्कार हुआ, तब इसके विरुद्ध काफ़ी आपत्तियाँ उठाई गई थीं। आज भी जो देश इसे प्रचलित नहीं करना चाहते, वे अनेक आपत्तियाँ उठाते हैं। और चूंकि पाठक, उन्हें सामने रखकर इस पद्धति की उपयोगिता अनुपयोगिता के सम्बन्ध में अधिक विचारपूर्ण निर्णय पर पहुँच सकते हैं, अतः हम उनमें से मुख्य-मुख्य यहाँ दे रहे हैं। वे इस प्रकार हैं:—

१—व्यवस्थापिका के सदस्यों को अपनी जिम्मेदारी टालने में प्रोत्साहन मिलता है।

२—रिफ़ैरेण्डम से व्यवस्थापिका सभाओं की शक्ति कम हो जाती है।

३—जनता को उभार कर चालाक लोग अवांछनीय और भयंकर क़ानून भी बनवा सकते हैं।

४—यह चुने हुए प्रतिनिधियों को जनता के ग़ुलाम बनाता है।

५—जनता क़ानूनों को समझने और उन पर मत देने के योग्य नहीं होती।

६—यह शिक्षितों के कार्य का फ़ैसला अशिक्षितों से कराने के समान है।

७—'रिफ़ैरेण्डम्' में बहुत कम मतदाता भाग लेते हैं।

८—साधारण जनता भूल कर सक़ती है, परन्तु चुने हुए विशेषज्ञ प्रतिनिधि भूल नहीं कर सकते।

९—यह शासन में किसी एक दल की प्रधानता नहीं होने देती और इसलिये उन्नति की घातक है।

१०—जनता टैक्स बढ़ने के डर से बड़े-बड़े काम करने की मंज़ूरी नहीं देती और इसलिए देश उन्नति नहीं कर सकता।

११—यह पद्धति प्रतिनिधि-शासन की नाशक है।

पाठक देखेंगे कि इन आपत्तियों में १, २, ४, ५, ८, ९ और ११ प्रायः एक ही आशय को भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट करने वाली हैं। अर्थात् प्रतिनिधि सत्तात्मक शासन ही अच्छा है। स्पष्टतः ये आपत्तियाँ प्रतिनिधि सत्तात्मक वा एक वर्ग के शासन के पृष्ठ-पोपकों द्वारा उठाई हुई हैं। फिर भी, आइये, हम इसमें से प्रत्येक की सचाई झुठाई की परीक्षा करें।

(१) यह हम ऊपर बता ही चुके हैं कि वर्तमान प्रतिनिधि-तंत्र वा उसके आधार पर बने प्रजातंत्रों एवं नियंत्रित राज-

तंत्रों में वास्तव में प्रजा का शासन नहीं, बड़े-बड़े धनिकों के वर्ग वा शासक वर्ग का शासन होता है। साथ ही यह भी ऊपर के अध्यायों में दिये हुए विवेचन से स्पष्ट है कि प्रतिनिधि-तंत्र की प्रणाली सब से अधिक बुराइयों को उत्तेजना देने वाली है। चूँकि क़ानून बनाने और उसे स्वीकार वा अस्वीकार करने की सर्वोपरि सत्ता व्यवस्थापिका के सदस्यों के हाथ में होती है, अतः प्रत्येक दल इन सदस्यों में बहुमत अपने पक्ष का चुनवाने और इस प्रयत्न में सफल न होने पर दूसरे वर्गों वा दलों की ओर से आये हुए सदस्यों को, रिश्वत, पद, प्रतिष्ठा, विशेष सुविधाओं आदि द्वारा ख़रीदने का प्रयत्न करता है। प्रतिनिधि लोग भी एक बार चुन लिये जाने पर एक निश्चित मियाद के लिये बेलगाम हो जाने के कारण अपनी जेबें भर कर अवांछनीय क़ानून बना और स्वीकार कर डालते हैं, क्योंकि उसके बुरे भले फल तो जनता को भोगने पड़ते हैं। उनका क्या बिगड़ता-बनता है। वे तो अपनी व्यक्ति-गत स्थिति कुछ बना ही लेते हैं।

इस स्थिति के फल से जहाँ एक ओर इन व्यवस्थापिकाओं में जाने को स्वार्थी और चालाक लोग उत्सुक हो, भिन्न-भिन्न सिद्धांतों की झूठी घोषणाएें कर जनता को धोखे में डालने के लिये उत्साहित होते हैं, वहाँ दूसरे स्वार्थी दल और स्वयं सरकारें वा शासनारूढ़ दल, व्यवस्थापिकाओं का उपयोग अपने लाभ के लिये करने को उतने ही विकारों के शिकार बनते हैं। वे दिल खोल कर सार्वजनिक धन से जुआ खेलते हैं और फिर इन ख़रीदे हुए प्रतिनिधियों से ही भिन्न-भिन्न रूपों में उक्त ख़र्च की मांगे स्वीकृत करा उसे जनता के सिर डालते हैं। जनता के हाथ में एक बार चुन देने पर इन प्रतिनिधियों को ठीक मार्ग पर लाने का दूसरे चुनाव के पहले कोई अस्त्र नहीं रहता।

यही कारण है कि जिस देश की व्यवस्थापिकाऐं जितनी ही अनियंत्रित हैं, वहाँ की व्यवस्थापिकाओं के सदस्यों को उतना ही अधिक व्यय मिलता है, उदाहरण के लिये जहाँ स्विटजरलैंड में व्यवस्थापिका के सदस्यों को सफ़रख़र्च के अलावा फी उपस्थिति ५ शिलिंग (प्रायः ४ रुपये) एवं कार्य-कारिणी के सदस्यों को १२५) मासिक मिलते हैं, वहाँ हमारे कार्यकारिणी के सदस्यों को ६००००) से ८००००) वार्षिक तक मिलते हैं।

इस परिस्थिति का फल हम स्वयं अपने देश में भी देख रहे हैं। क्या भयानक से भयानक दमनकारी क़ानून हमारी व्यवस्थापिकाओं में भारतीय प्रतिनिधियों की ही उपस्थिति में स्वीकृत नहीं होते ? क्या आज भी "किसान रक्षक" क़ानूनों के नाम पर "ज़मींदार रक्षक" और 'मज़दूर रक्षक' क़ानूनों के नाम पर 'धनिक रक्षक' क़ानून नहीं बनाये जा रहे हैं। भला इस प्रकार के प्रतिनिध्यात्मक प्रजातंत्रों या नियंत्रित राज्यतंत्रों का कौन समर्थन कर सकता है ?

ऐसी अवस्था में (जैसा कि अब तक के इस पद्धति के प्रयोग से भी प्रमाणित हुआ है) 'रिफ़रैण्डम' ने तो उल्टे ग़ैर ज़िम्मे-दार व्यवस्थापिकाओं को ज़िम्मेदार बनाया है। क्योंकि जब स्वार्थी लोगों को मालूम हो जाता है कि अब किसी क़ानून का अन्तिम भाग्य निर्णय व्यवस्थापिका के सदस्यों के हाथ में नहीं है, तब वे न तो सदस्यों को ख़रीदने की चेष्टा करते हैं और न अपने उम्मेदवार खड़े करने या किसी अप्रत्यक्ष उम्मेदवार को सफल बनाने के लिये जनता को धोखे में डालने की।

दूसरी ओर व्यवस्थापिका के सदस्य भी प्रत्येक क़ानून बनाने या स्वीकार करने के पहले सब बातों पर भलीभाँति

विचार कर लेते हैं। फिर वे तब ही क़ानून बनाते या स्वीकार करते हैं जब उन्हें विश्वास हो जाता है कि इस की आवश्यकता है, वह जनता के लिये हितकर है और इसका विरोध जनता के बहुमत की ओर से न होगा।

(२) दूसरी आपत्ति के समर्थक कहते हैं कि राष्ट्र के लिये आवश्यक बहुत से खर्चों की महत्ता को साधारण जनता नहीं समझ सकती। साथ ही विशेष स्थितियों में तात्कालिक क़ानूनी उपाय इस पद्धति से प्रयोग में नहीं लाए जा सकते।

इस प्रश्न का उत्तर स्वयं स्विटज़रलैंड का शासन है, जिसमें बहुत काफ़ी लम्बे अरसे से इस पद्धति का प्रयोग हो रहा है। उदाहरण के लिए जूरिच में जनता ने विश्वविद्यालय के ३० लाख फ्रांक्स खर्च करने का बिल प्रसन्नता से मंजूर कर लिया। तमाम बड़ी रेलों को ख़रीदने की मंजूरी प्रबल बहुमत से दी। इसी प्रकार विशेष स्थिति के लिये आवश्यक शक्ति-प्रयोग के अधिकार भी जनता ने केन्द्रीय सरकार के लिये स्वीकृत कर दिये हैं। हाँ, यदि उनका दुरुपयोग किया जाय तो वे भी 'रिफ़ैरेण्डम' की कसौटी पर घसीटे जा सकते हैं और इससे यह लाभ ही है कि सरकार और अधिकारी भी उनका दुरुपयोग नहीं करते।

इतना ही नहीं, मि० विस्काउण्ट ब्राइस के शब्दों में कहें तो "विशुद्ध-उपयोगी-क़ानून बन ही उस देश में सकते हैं, जहाँ रिफ़ैरेण्डम की पद्धति जारी हो। क्योंकि जहाँ 'रिफ़ैरेण्डम' की पद्धति नहीं होती, और व्यवस्थापिका बेलगाम होती है, वहाँ प्रायः सच्चे सुधारकों को भी दूसरे दलों का सहयोग प्राप्त करने के लिये अपने बिल में ऐसे संशोधन कर लेने पड़ते हैं, जिनसे

वह सदोष हो जाता है। कई बार तो उसका उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। परन्तु स्विटज़रलैंड में ऐसे पचासों उदाहरण हो चुके हैं, जिन में जनता ने ऐसे क़ानूनों को सदोष होने के कारण नामंज़ूर कर दिया, परन्तु जब दुबारा वे ही विशुद्ध रूप में उसके सामने रक्खे गए, तब उसने तुरन्त स्वीकृति दे दी।"
(Modern Democracies Vol. I)

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन ही २, ३, ५, ६, ८, ९, १० और ११ वीं आपत्तियों का भी उत्तर दे देता है। क्योंकि अनुभव से यह स्पष्ट हो गया है कि शिक्षित कहलाने वाले प्रतिनिधि समझौते के लिये वा अधिक चालाक लोगों की नीति में फँसकर सदोष क़ानून बना और स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु जनसाधारण कभी ऐसी भूल नहीं करते और इस प्रकार उनकी सामूहिक बुद्धि, शिक्षितों की योग्यता से श्रेष्ठ होती है।

इसके अतिरिक्त यह आक्षेप तो दुधारी तलवार है। वह जिस प्रकार साधारण जनता पर लागू होती है, उसी प्रकार शिक्षितों के लिये भी प्रयुक्त हो सकती है। प्रश्न यह है कि राजनैतिक दलों के आदर्श, कार्यक्रम और जान बूझ कर शब्दच्छलपूर्ण बनाई गई उनकी बड़ी-बड़ी गम्भीर घोषणाएं कौनसी क़ानूनों से कम जटिल होती हैं ? वे भी तो आजकल के मुहाविरे के अनुसार "राजनैतिक भाषा" में होती हैं। क़ानून को देखकर तो साधारण व्यक्ति भी, पूरा नहीं तो कुछ, उसके आशय और अपने हितों पर पड़ने वाले उसके प्रभाव को समझ सकता है; परन्तु उनकी सामग्री के तो सिर या पूँछ—किसी का भी उसे पता नहीं लग सकता। ऐसी दशा में राजनैतिक सिद्धान्तों के आधार पर दल बना कर उन पर लोकमत लेना भी तो उतना ही अनुचित ठहरता है, जितना कि क़ानूनों पर उनका मत लेना

और यदि इसके लिए साधारण जनता योग्य है, तो क़ानूनों पर मत देने के लिये और भी अधिक योग्य है।

रही चौथी आपत्ति सो वह वैसे ही सार-शून्य है। जो लोग (व्यवस्थापिकाओं के प्रतिनिधि या उनके पक्षपाती) जनता के इस अधिकार को "अशिक्षितों की गुलामी" समझते हैं, वे यह आपत्ति उठाते समय इस बात को भूल जाते हैं कि न केवल उन्हें शिक्षित बनाने वाली संस्थाओं का खर्च वही अशिक्षित जनता उठाती है, प्रत्युत उन्हें चुन कर भी वही भेजती है। यदि उन्हें अपनी कृतियों पर उसका मत जानना अपमान जनक मालूम होता है, तो उनके द्वारा चुना जाना तो और अधिक अपमान-जनक है।

रहा मतदाताओं के "रिफ़ैरेण्डम" में भाग लेने का प्रश्न सो मि० ब्राइस ने स्वयं अपने Modern Dimocracies नामक ग्रन्थ में कहा है कि जाँच करने से मुझे मालूम हुआ कि हमेशा ६० से ८५ प्रतिशत तक मतदाता भाग लेते हैं। प्रायः यही स्थिति साधारण अवस्था में, सब देशों में व्यवस्थापिकाओं के चुनाव में देखी जाती है।

अलबत्ता सोशलिस्ट (साम्यवादी) और कम्यूनिस्ट (समष्टि-वादी) लोगों को यह शिकायत है कि इस पद्धति में उनके विचार और संगठन विशेष नहीं पनप पाते, क्योंकि जनता में उतना असन्तोष ही नहीं बढ़ पाता।

दलगत-शासन की व्याख्या

परन्तु वर्गीय शासन के मतवाले सब से अधिक इसलिये "रिफ़ैरेण्डम" के विरुद्ध हैं कि वह वर्ग शासन या राजनैतिक

दल-बन्दियों को प्रोत्साहन नहीं देता। दलबंदियों या वर्ग-शासन अथवा पार्लियामेण्टरी-गवर्नमेण्ट की आवश्यकता के सम्बन्ध में जब उनसे प्रश्न किया जाता है, तो वे कहते हैं, कि "उससे शासन अच्छा होता है। देश की उन्नति होती है!"

"परन्तु कैसे?" इस प्रश्न के उत्तर में वे कहते हैं कि—"प्रथम तो प्रत्येक दल अधिक लोकप्रिय होने के लिये नए नए कार्यक्रम और सुधार के प्रश्न जनता के सामने रखता रहता है। दूसरे प्रत्येक दल दूसरे की त्रुटियों की आलोचना करता रहता है। इन सब बातों से जनता को राजनैतिक शिक्षा मिलती रहती है। फिर दल पद्धति में एक दल जो अल्पमत में रहता है, प्रायः विरोधी रहता है और उसके भय से शासनारूढ़ दल सदा सतर्क रह कर शासन प्रणाली को ऐसा रखने की चेष्टा करता है, जिस पर विरोधियों को आक्षेप करने का अवसर न मिले। इसी लिये पार्लियामेंटरी पद्धति शासन को उन्नतिशील रखने वाली है।"

निःसन्देह, साधारण बुद्धि के व्यक्ति को ये बातें अच्छी लगती हैं। परन्तु थोड़ा गम्भीरता पूर्वक विचार करते ही आधुनिक राजनीति से परिचित व्यक्ति स्पष्ट समझ जाता है कि सब जनता को भ्रम में डालने के तरीक़े हैं। क्योंकि प्रथम तो जिन-जिन देशों में यह पद्धति प्रचलित है, उनमें से किसी में वह शांति और उन्नति नहीं दिखाई देती, जो "रिफ़रेण्डम" पद्धति को मानने वाले देशों में दिखाई देती है। अमेरिका के शासन तक में इस पद्धति के प्रयोग के बाद ही स्थिरता आई है। वैसे भी आम तौर पर ऐसे देशों में जितने दल होते हैं, वे प्रायः सब सम्पन्न वर्गों के ही होते हैं। कोई ज़मींदारों का तो कोई कारखानेदारों का। कोई पदवीधारी शिक्षितों का और कोई अन्य बड़े उद्योगों वालों या व्यापारियों का। इन्हीं वर्गों को सब प्रकार

की सुविधाएँ रहती हैं और इसलिए ये ही भिन्न-भिन्न राजनैतिक सिद्धान्तों की आड़ में अपने दल संगठित कर लेते हैं एवं एक दूसरे के विरुद्ध प्रधानता के लिये लड़ते रहते हैं।

यही कारण है कि वे साधारण प्रश्नों को लेकर हमारे नेशनलिस्ट और स्वराजिस्ट आदि दलों की तरह एक दूसरे की आलोचना भले ही करते रहते हों, गोल-मोल शब्दों में चाहे कुछ साम्यवाद जैसे सिद्धान्तों के प्रति भी अनुरक्ति दिखाते रहते हों; परन्तु साधारण जनता में वैज्ञानिक राजनीति का प्रचार हो, अथवा उसे कुछ प्रभावशाली अधिकार मिलें, ऐसी बात भी कोई नहीं करते। अन्यथा फ्रांस और इंगलैंड में तो आज तक बच्चा-बच्चा राजनीतिज्ञ हो जाना चाहिये था। सच तो यह है कि ऐसे लोग अपने स्वार्थों की रक्षा के लिये ही रिफ़रेण्डम का विरोध करते हैं।

धार्मिक और जातीय भेद भाव

दलबन्दी ही नहीं, जातीय और धार्मिक भेद भावों के रोगों—जिनका हमारा देश विशेष रूप से शिकार है—को मिटाने में भी "रिफ़रेण्डम" की पद्धति 'रामबाण' साबित हुई है। इस सम्बन्ध में विस्काउण्ट ब्राइस कहते हैं कि:—

"रिफ़रेण्डम जातीय और धार्मिक भेदभावों को राष्ट्रीयता में परिणत कर देता है। क्योंकि सब वर्गों और दलों के लोगों को मिलकर ऐसे प्रश्नों पर मत देना पड़ता है और उनके लिये काम करना पड़ता है, जो धर्मों एवं वर्गों की भावना और दलों के कार्यक्रम से परे होते हैं।

हम जानते हैं कि स्विस-संघ में अनेक और विभिन्न परस्पर विरोधी विचार रखने वाले समूह सम्मिलित हैं। लेकिन [illegible]

ही इस बात से भी कोई इन्कार नहीं कर सकता कि इन सब में एक राष्ट्रीयता की भावना द्वारा, ऐक्य स्थापित करने का श्रेय रिफ़रेण्डम को ही है। ... .

....

इस प्रचार का पोषक कोई प्रमाण नहीं मिलता कि रिफ़रेण्डम के कारण व्यवस्थापिकाओं के सदस्यों की योग्यता वा उनकी क़दर में कोई कमी आई है अथवा योग्य आदमियों को उम्मेदवार बनने में उन्हें प्रोत्साहन नहीं मिलता।"

(मोडर्न डिमौक्रसीज भाग १ पृ० ४४७)

श्री बालकृष्ण एम० ए०, पी० एच० डी० (लन्दन) प्रिंसिपल, राजाराम कॉलेज, कोल्हापुर, अपनी पुस्तक (Demnd of Democracy) में कहते हैं कि:—"रिफ़रेण्डम जनसत्ता के जहाज़ का मस्तूल है।......यह बुरे क़ानूनों का बनना रोकता है। इसने जनता और शासकों के बीच के विरोध और भेदभाव को मिटा दिया है। इसने व्यवस्थापिकाओं में होने वाली स्वार्थ-परायणता, रिश्वत, कूटनीति और दलबन्दी आदि की जड़ काट दी है। वह किसी वर्ग या दल के हित के विचार को हटा कर देश भर के हिताहित से सम्बन्ध रखने वाले क़ानूनों को ही स्वीकार करता है। यह शासन यंत्र में स्थायित्व लाता है।...... अपव्यय को रोकता है।......जनता को राजनैतिक शिक्षा देने का यह प्रधान अस्त्र है। यह जाति और धर्मगत भेदों को नष्ट करता है और जनता की रुचि शासन एवं राजनैतिक प्रश्नों में बढ़ाता है।......यह अनावश्यक क़ानूनों की वृद्धि रोकता है, ...साथ ही यह हिंसात्मक क्रांतियों की सब से बड़ी ढाल है। यह प्रतिनिधि सत्तात्मक शासन की सब बुराइयों को दूर करने का अचूक नुस्खा है।......सब से बड़ी बात यह है कि

इसमें भिन्न-भिन्न परस्पर विरोधी (ग़रीब-अमीर, धनिक, मजदूर आदि) समूहों को मिलाने की अद्भुत शक्ति है।" (अध्याय ६ पृ० ६१–६२)।

मि० एम० हिल्टी कहते हैं:—

"रिफ़रेण्डम द्वारा बने हुए क़ानून दुगने लोक-प्रिय होते हैं। इसके द्वारा लोग स्वतः ही क़ानून की बारीकियाँ समझने लगते हैं।······साथ ही व्यवस्थापिकाओं को भी न केवल अपने 'बिल' (क़ानूनों के मस्विदे) संक्षिप्त बनाने पड़ते हैं, प्रत्युत इतनी सरल और सीधी भाषा में भी बनाने पड़ते हैं, कि सर्व साधारण उन्हें भलीभाँति समझ लेते हैं।

यह लोगों में देश प्रेम बढ़ाता है······और मतदाताओं में दायित्व की भावना को जागृत करता है।······यह शासक वर्ग में जनता को उल्लू बनाकर उस पर अधिकार रखने की आकांक्षा के स्थान पर सहयोग और सेवा द्वारा अपना अस्तित्व रखने की भावना पैदा करता है।"

(Deploige's Referandum P. 278)

इन उद्धरणों से पाठक समझ सकते हैं कि 'रिफ़रेण्डम' के विरोधियों की दलीलें कितनी स्वार्थपूर्ण एवं लचर हैं और यह पद्धति वास्तव में कितनी उत्कृष्ट है।

व्यावहारिक रूप

प्रत्येक क़ानून, जब व्यवस्थापिका में स्वीकृत हो जाता है, तो वह सरकारी अख़बार में प्रकाशित कर के ज़िलों की कौंसिलों के पास भेज दिया जाता है। ज़िले की कौंसिलें उसकी प्रतियां ग्राम पंचायतों में बँटवा देती हैं। इस पर लोकमत प्रकट करने की ३ मास या ९० दिन की मियाद दी जाती है।

इस ६० दिन की मियाद में यदि ३०००० नागरिक या ८ ज़िले मिलकर रिफ़रेण्डम की मांग करना चाहें, तो वे कर सकते हैं। परन्तु आम तौर पर ज़िले रिफ़रेण्डम की मांग बहुत कम करते हैं।

क़ानून प्रकाशित हो जाने पर उसके विरोधी दल, जनता में घूम घूम कर उसकी त्रुटियां उसे समझाते हैं। साथ ही रिफ़रेण्डम के लिए हस्ताक्षर लेने शुरू करते हैं। कई बार इस प्रकार के प्रचार और हस्ताक्षर प्राप्त करने के लिए दलों और संस्थाओं का संगठन कर लिया जाता है। क्योंकि हस्ताक्षरों के बनावटी होने, न होने की कड़ी जाँच की जाती है। यह जाँच प्रत्येक ग्राम-पंचायत के सभापति द्वारा की जाती है।

किसी किसी ज़िले में अपढ़ नागरिकों के लिए हस्ताक्षर के स्थान पर कोई चिन्ह बना देने का नियम भी होता है।

जब इस प्रकार पूरे हस्ताक्षर पहुँच जाते हैं, तब सरकार इसकी सूचना ज़िला पंचायतों को दे देती है और क़ानून की प्रतियाँ देश भर में बँटवा देती हैं।

इसके बाद मत लेने की तारीख़ घोषित की जाती है, जो कम से कम क़ानून के प्रकाशन और वितरण के एक मास बाद की होती है।

सरकार की तरफ़ से सिर्फ़ क़ानून प्रत्येक मतदाता के पास भेज दिया जाता है। उसके पक्ष वा विपक्ष में कोई सम्मति या विवेचन नहीं भेजा जाता।

इसके बाद पक्ष और विपक्ष के दलों द्वारा आन्दोलन शुरू होता है। इस आन्दोलन की सभाओं में व्यवस्थापिका के सदस्य भी भाग ले सकते और भाषण कर सकते हैं।

मत लेने का प्रबन्ध प्रत्येक ज़िले में उस ज़िले की पंचायत करती है। हाँ, क़ानून की प्रतियाँ और 'बैलट पेपर्स' केन्द्रीय सरकार ही ज़िलों को भेजती है।

मत देश भर में प्राय: एक ही दिन और प्राय: रविवार को लिये जाते हैं। मत देने के दिन सारा काम क्रम बद्ध और नियमित रूप से होता है। कोई झगड़े टण्टे या रिश्वत आदि की शिकायत नहीं सुनी जाती।

अवश्य ही क़ानून की प्रतियाँ इस पद्धति में बहुत अधिक छपानी पड़ती हैं और इस लिये व्यय अधिक होता है, परन्तु दूसरी बुराइयों के दूर होने और उनसे देश के सुरक्षित रहने के रूप में कई गुना अधिक लाभ हो जाता है। साथ ही एक लाभ यह भी है कि जब तक पूरी आवश्यकता ही न हो, व्यवस्थापिका नए क़ानून नहीं बनाती।

(२)

कुछ ज़िलों में हस्ताक्षर लेने की पद्धति नहीं है। वहाँ प्रत्येक क़ानून पर रिफ़रैण्डम लेने का नियम है और इसलिये हस्ताक्षरों की आवश्यकता ही नहीं होती। और चूँकि कई ज़िलों में मतदाता अकारण मत देने न आवे तो उस पर जुर्माना होता है, अत: मत भी काफ़ी आते हैं।

सरकारी कानूनों का संशोधन एवं परिवर्तन
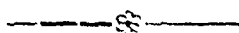
इसकी मांग नीचे लिखे अनुसार हो सकती है:—

(अ) किसी भी व्यवस्थापिका के सदस्य द्वारा।

(ब) किसी ज़िले की शासन सभा द्वारा।

(स) केन्द्रीय सरकार या संघ-सभा द्वारा।
(द) ५०००० मतदाताओं द्वारा।

ऐसी मांग होने पर, पहले संशोधन पर दोनों व्यवस्थापिकाऐं मिलकर विचार करती हैं। यदि वे संशोधित क़ानून पर सहमत होती हैं, तो उस पर लोकमत ले लिया जाता है।

यदि व्यवस्थापिकाऐं परस्पर सहमत नहीं हो पातीं, तब जनता का मत पहले इस बात पर लिया जाता है कि "प्रस्तावित संशोधन होना चाहिये या नहीं। यदि जनता का बहुमत संशोधन के पक्ष में होता है, तो व्यवस्थापिकाऐं भंग कर दी जाती हैं और दूसरे चुनाव में संशोधन के पक्षपाती उम्मेदवार चुने जाते हैं।

चुनाव के बाद व्यवस्थापिकाऐं उक्त संशोधन या क़ानून को स्वीकार कर उस पर लोकमत लेती हैं। परन्तु यदि प्रस्ताव ५०००० मतदाताओं द्वारा आता है, तो उस पर व्यवस्थापिकाऐं विचार नहीं करतीं, उस पर लोकमत ले लिया जाता है।

इस प्रकार यदि व्यवस्थापिकाऐं सहमत होती हैं तो लोकमत एक बार ही लिया जाता है और यदि उनमें मतभेद हो जाय तो प्रत्येक प्रश्न पर दो बार "रिफ़ैरेण्डम" का प्रयोग होता है।

यदि संशोधन मामूली होता है, और उस पर भी व्यवस्थापिकाओं में मतभेद होता है। तो उक्त संशोधन स्थगित कर दिया जाता है। उस अवस्था में व्यवस्थापिकाऐं भंग नहीं की जातीं, अनुकूल अवसर आने पर ऐसे प्रश्न फिर उठाये जाते हैं।

जनता के साधारण संशोधन

यदि ५०००० मतदाताओं द्वारा साधारण संशोधन पेश होना हो, तो वे दोनों प्रकार से कर सकते हैं। केवल संशोधन का उद्देश्य और रूप बता कर या स्वतंत्र बिल (क़ानून का मस्विदा) की शकल में पेश करके। यदि व्यवस्थापिकाएँ उससे सहमत हुई, तो उस पर लोकमत ले लिया जाता है। यदि सहमत न हों तो "संशोधन होना चाहिये 'या नहीं"—इस विषय पर लोकमत लिया जाता है। अथवा उसकी जगह व्यवस्थापिका स्वयं दूसरा संशोधन या क़ानून बना कर दोनों पर साथ-साथ मत लेती है। यदि जनता फिर भी पहले संशोधन या क़ानून के पक्ष में ही मत देती है, तो वही विरोध करने वाली व्यवस्थापिका उस का मस्विदा बना कर उसे स्वीकार कर लेती है। इस प्रकार व्यवस्थापिकाओं के भंग होने की नौबत नहीं आती।

हाँ, किसी संशोधन की सफलता के लिये अकेली जनता का ही बहुमत काफ़ी नहीं है। कैण्टन्स का भी बहुमत होना चाहिये। परन्तु यह नियम विशेष क़ानूनों के लिये है, साधारण संशोधनों में जनता का बहुमत ही काफ़ी माना जाता है।

कुछ परिणाम

स्विटजरलैंड में सन् १८७४ ई० में रिफ़ैरेण्डम की पद्धति प्रचलित हुई थी। तब से १८६८ ई० तक—

(१) पुराने क़ानूनों के ११ संशोधनों पर लोकमत लिया गया जिनमें से ७ स्वीकृत हुए और ४ अस्वीकार किये गए।

(२) नए प्रस्तावों और क़ानूनों (जिन पर लोकमत लिया गया) की संख्या २५ थी। इनमें से ७ स्वीकृत हुए और १८ नामंजूर हुए।

सन् १६०५ से १६१६ तकः—

(३) व्यवस्थापिका ने कुल तीन क़ानूनों और प्रस्तावों पर लोकमत लिया और वे सब स्वीकृत हुए।

संशोधनों के प्रस्तावों का भी इतिहास मनोरंजक है। उदाहरण के लिएः—

(४) इस लम्बे समय में व्यवस्थापिका की ओर से २५ संशोधन जनता के सामने रक्खे गए, जिनमें से उसने १६ स्वीकार किये और ६ अस्वीकार।

(५) परन्तु ५०००० मतदाताओं के हस्ताक्षरों द्वारा १२ संशोधनों पर लोकमत लिया गया, फिर भी ५ ही स्वीकृत हो सके और ७ अस्वीकार कर दिए गए।

इन परिणामों से नीचे लिखे निष्कर्ष निकलते हैंः—

१—प्रारम्भ में, पहिले के अभ्यास के अनुसार व्यवस्थापिकाओं ने बहुत से क़ानून बनाए, परन्तु अन्त में वे नामञ्ज़ूर हुए।

२—इस अनुभव से लाभ उठाकर फिर व्यवस्थापिकाओं ने क़ानून बनाने में दायित्वपूर्णता से काम लेना शुरू किया और इसलिये पीछे उसके अधिकांश क़ानून स्वीकृत हुए।

३—चूंकि पीछे क़ानून कम बनने से भी शासन-यंत्र और देश को कोई हानि नहीं पहुँची, अतः स्पष्ट है कि पहले बहुत से क़ानून अनावश्यक और प्रायः व्यवस्थापिका के सदस्यों के नाम कमाने या वर्ग विशेष का 'नमक अदा' करने की इच्छा के फल होते थे।

४—ज्यों २ व्यवस्थापिकाएं अधिक दायित्वपूर्ण होने लगीं, त्यों-त्यों, नागरिकों की अपेक्षा उन के क़ानून अधिक स्वीकार कर जनता ने उन पर विश्वास करना शुरू कर दिया।

५—जनता ने इतने लम्बे समय में भी कोई अनुचित बात स्वीकार नहीं की, इससे स्पष्ट है कि जन-साधारण, वर्गों और दलों की तरह अधिकार का दुरुपयोग नहीं करते, अन्यथा धनिक और शासक वर्ग को कठिनाइयों में डाल देना उन के लिये आसान था।

६—अब तक भी क़ानूनों के अस्वीकृत होने की नौबत आना इस बात का प्रमाण है कि इतने जन-सत्तात्मक शासन में भी व्यवस्थापिका लोकमत-विरोधी क़ानून बना सकती है। फिर उन व्यवस्थापिकाओं को जनता की प्रतिनिधि कहना; जहाँ जनसत्ता अन्तिम निर्णायक नहीं है, तो प्रतिनिधित्व का मजाक उड़ाना है।

रिफ़ैरेण्डम का विरोध किये जाने के कुछ विशेष कारण भी हैं। स्विटजरलैंड का इतिहास ही इसका साक्षी है। उसके अध्ययन से पता लगता है कि बीच-बीच में भिन्न-भिन्न क़ानूनों की आड़ में केन्द्रीय सरकार यह कोशिश करती रहती है कि उसके अधिकार बढ़ जायँ। परन्तु अशिक्षित कही जाने वाली जनता इस मामले में इतनी योग्य साबित हुई है कि उसने प्रायः हर बार केन्द्रीय सरकार को मात दी है।

उदाहरण के लिये हमारे देश की सिविल सर्विस की तरह जब वहाँ की केन्द्रीय सरकार ने अपने अधिकारियों की पेन्शनों के लिए एक क़ानून बनाया, तो जनता ने उसे इसीलिए नामंजूर

कर दिया कि वह केवल केन्द्रीय सरकार के अधिकारियों के लिये था, न कि सारे देश के लिये। इसी प्रकार जब एक क़ानून समाचार पत्रों के विरुद्ध सैनिकों में अनुशासन-हीनता फैलाना रोकने के बहाने व्यवस्थापिका में स्वीकृत किया गया, तो जनता ने उसे प्रबल बहुमत से नामंजूर कर दिया। शिक्षा को भी जब केन्द्रीय सरकार ने पूर्णतः अपने अधिकार में लेना चाहा, तो जनता ने प्रबल विरोध कर उस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इतना ही नहीं, स्विस लोग स्थानीय और प्रादेशिक स्वतंत्रता के इतने पक्षपाती हैं कि जब केन्द्रीय सरकार ने मत-दाताओं की योग्यता आदि नियत करने के अधिकार अपने हाथ में यह कहकर लेने चाहे कि यह अधिकार प्रत्येक ज़िले को होने से देश भर में इस संबन्ध में एक सा क़ानून नहीं बन पाता, तो जनता ने स्पष्टतः यह कह कर उक्त प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया कि अपने प्रदेश के मतदाताओं के सम्बन्ध में, प्रदेश ही सब से अच्छा निर्णय कर सकते हैं।

इस प्रकार जब २ शासनारूढ़ दल ने अपने अधिकार बढ़ाने या अपने दल को सुदृढ़ करने के लिये कोई क़ानून बनाना चाहा है, तभी जनता ने उसे अस्वीकार कर दिया है और जब वही क़ानून उस दोष से मुक्त करके उसके सामने रक्खा गया है, तभी उसने उसे स्वीकार कर लिया है।

अमेरिका की सतर्कता

अमेरिका ने तो इस अनुभव से लाभ उठाकर यह नियम ही कर दिया है कि जनता चाहे, तो पूरे क़ानून को नहीं, उसके दूषित भाग को ही रद्द कर सकती है। इससे व्यवस्थापिकाओं की क़ानून को दुबारा बनाने की महनत बच जाती है। हाँ, जो

दल व्यवस्थापिका में अपने दाँव-पेचों द्वारा क़ानूनों में अवांछ-नीय संशोधन करा लेते हैं, उन्हें बुरी तरह निराश होना पड़ता है।

यही क्यों, पहले स्विटजरलैंड में तात्कालिक और विशेष स्थिति के लिए बनने वाले 'आर्डिनेंसों' एवं क़ानूनों पर "रिफ़ैरेण्डम' लेने का नियम न होने से अधिकारी लाभ उठाते थे और "ज़रूरी" की आड़ में आवश्यक क़ानून बना लेते थे। अतः अमे-रिका के कई राज्यों ने स्विस लोगों की इस कठिनाई से शिक्षा ले प्रारम्भ से ही यह नियम रख दिया कि ऐसे ज़रूरी क़ानूनों और 'डिक्रीज़' पर भी यदि ३०००० मतदाता लिखें, तो 'रिफ़ै-रेण्डम' का प्रयोग कर उनके ज़रूरी या ग़ैर ज़रूरी होने का निर्णय किया जाय। इससे स्वाभावतः स्वार्थियों के स्वार्थ साधन का रहा सहा मार्ग भी बन्द हो गया और यही कारण है कि वर्गशासन के पक्षपाती इस पद्धति को प्रायः सर्वोत्तम होने पर भी स्वीकार नहीं करते।

अवश्य ही इस पद्धति की पूरी सफलता भी उसी अवस्था और उन अन्य सहायक व्यवस्थाओं पर ही निर्भर है, जो स्वि-टज़रलैंड में वर्तमान एवं प्रचलित हैं। परन्तु इस छोटी-सी पुस्तक में उन सब बातों के विवेचन के लिये स्थान नहीं है। फिर इसका ध्येय भी केवल चुनाव पद्धतियों का विवेचन है।

THE INITIATIVE (दि इनीशियेटिव)

अर्थात् विधान निर्माणाधिकार

या

जनता का स्वयं क़ानून बनाना

——❀——
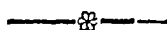
परन्तु केवल 'रिफ़ैरेण्डम' से ही वर्तमान व्यवस्थापिकाओं की चालों का अन्त नहीं हो गया। हम बता चुके हैं कि समाज के वर्तमान अप्राकृतिक, आर्थिक और अन्य गहरे भेदभावों के मौजूद रहते हुए, समानता के आदर्श को व्यावहारिक रूप देना एक असाध्य-साधन का प्रयत्न है। फिर भी चूंकि मनुष्य के—स्विटजरलैंड के अशिक्षित जन-समूह के—मस्तिष्क ने इस पुराने नुस्खे को सुरक्षित रख छोड़ा था, अतः वह इस समय काम आ गया और उसने इस असाध्य समस्या को बहुत कुछ साध्य बना दिया।

परन्तु वर्तमान राजनीति जितनी प्रगति कर चुकी है और जितनी सबल हो चुकी है, उसके लिये इतना ही काफी न था। वह रिफ़ैरेण्डम के शिकंजे में जकड़ी रहने पर भी कुछ न कुछ करती ही रहती थी। ऐसे कुछ प्रयत्नों के उदाहरण ऊपर आ चुके हैं। एक दूसरा तरीका यह भी उसने ग्रहण किया कि जिस समय राष्ट्र के हित की दृष्टि से जो क़ानून बनाना आवश्यक होता, उसे वह उस समय न बनाती। क्योंकि आख़िर क़ानून बनाना या शासन व्यवस्था के बारे में कोई प्रस्ताव रखना तो व्यवस्थापिका और केन्द्रीय सरकार के ही हाथ में था। जनता तो केवल उसे स्वीकार या अस्वीकार कर सकती थी।

और व्यवस्थापिकाओं की स्थिति से तो आज सभी परिचित हैं। हमारे देश में ही क्या स्थिति है ? आज देश में औद्योगिक शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है। मशीनों के युग के कारण असंख्य युवक बेकार फिर रहे हैं। न उनके लिए नये उद्योग निकाले जाते हैं, न योरोपीय देशों की तरह कारखानेदारों की जेब से निकालकर उन्हें बेकारी का अलाउंस दिया जाता है। देश का अर्द्धाङ्ग स्त्री-समाज चक्की, चरखे, करघे आदि से तो बरी कर दिया गया है, परन्तु इससे हुई उसके स्वावलम्ब की हानि की पूर्ति के लिए कोई सोचता भी नहीं।

हमारी व्यवस्थापिकाएँ बड़े-बड़े धनिकों के उद्योग-धन्धों की रक्षा के लिये क़ानून बनाती हैं, आकाश-पाताल एक करती हैं, जमींदारों के हितों की रक्षा के लिए लड़ती हैं, परन्तु उपरोक्त उदाहरणों जैसे देश के बहुमत पर प्रभाव डालने वाले प्रश्नों की ओर फूटी आँख से भी नहीं देखतीं। अर्थात् वास्तव में वे जनता की प्रतिनिधि नहीं, स्वामिनी बनकर आचरण करती हैं।

फिर यदि वे कोई क़ानून जनता के हित के बनाती भी हैं, तो जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, भिन्न-भिन्न कारणों से उनका अधिकतर उपयोगी भाग निकाल दिया जाता है और अन्तिम रूप में वे मुख्यतः किसी वर्ग विशेष को ही लाभ पहुँचाने वाले रह जाते हैं। इसलिये यदि देश में 'रिफ़ैरेण्डम' की पद्धति प्रचलित हो, तो भी जनता के हाथ में किसी पूरे क़ानून को स्वीकार या अस्वीकार करने के अतिरिक्त कोई अधिकार नहीं रहता। आधुनिक 'रिफ़ैरेण्डम' के उत्कृष्टतम रूप में भी उसे सर्वत्र उसमें वाञ्छित संशोधन कर देने का अधिकार नहीं है। जनता में से आज के पक्षपातपूर्ण विधानों एवं व्ययशील चुनाव पद्धतियों के कारण व्यवस्थापिकाओं में न जा सकने वाला कोई योग्य व्यक्ति

जनता के हित का कोई क़ानून का मस्विदा बनाकर देना भी चाहे तो नहीं दे सकता।

इसीलिये १८ वीं शताब्दी के प्रथम चरण में ही स्विस लोगों ने यह आवाज बुलन्द की कि हम अपने प्रतिनिधि कहलाने वालों के गुलाम नहीं बनना चाहते। हमें स्वयं क़ानून बनाने का हक़ है।

स्वार्थियों ने इसका भी विरोध किया। अशिक्षित जनता अनर्थ कर देगी, क्रान्ति हो जायगी, बहुमत-अल्पमत को खा जायगा; आदि सब कुछ बका गया। परन्तु व्यर्थ। असन्तोप बढ़ता ही गया।

अन्त में इस आन्दोलन की सन् १६३१ ई० में विजय हुई और 'सेंट गाल' की कैण्टन में "इनीशियेटिव" पद्धति स्वीकार करली गई। इसके समर्थन में उस समय कहा गया था:—

"जनता—अकेली जनता ही देश की सबसे वरिष्ठ सत्ता है। उसकी इच्छा ही राष्ट्र का क़ानून होनी चाहिये। वरिष्ठता का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता। जो वरिष्ठ सत्ता अपने अधिकारों को प्रतिनिधियों के हाथों में ही छोड़े देती है, वह राज-च्युत शासक के समान है। इस लिये यह कल्पना ही नहीं की जा सकती कि व्यवस्थापिका जनता की अभिभावुक हो।"

इसी तरह प्रिंसिपल बालकृष्ण कहते हैं कि:—

"व्यवस्थापिका सभाएँ केवल वरिष्ठसत्ता—जनता—की एजेंट

हैं। जनता को, ऐसी व्यवस्थापिकाओं की स्वीकृति के विना, किसी क़ानून में परिवर्तन, परिवर्द्धन का अधिकार न होना, सैद्धान्तिक दृष्टि से दोषपूर्ण और व्यावहारिक दृष्टि से ख़तरनाक है।···
··· व्यवस्थापिका, कार्यकारिणी कौंसिल, और न्याय विभाग-कोई भी-अपनी शक्ति और अपने अधिकार अपनी ही स्वामिनी-जनता-के विरुद्ध उपयोग में लाने को स्वतंत्र नहीं होना चाहिये। आज इनमें से प्रत्येक विभाग अपने स्वार्थ से बंधा हुआ है। ये सब वरावर अपने अधिकार वढ़ाने की चेष्टा करते रहते हैं। और यदि अपने अधिकार घटाने वढ़ाने का काम वे विना जनता की मंजूरी के कर डालने को स्वतंत्र हों तो स्थिति विलकुल उलटी हो जायगी। अर्थात् जनता के वनाए-चुने-हुए एजेंट स्वामी हो जांयगे और स्वामिनी-जनता उनकी दासी वन जायगी। (यही हो रहा है। ले०) यह "कुत्ते के अपनी पूंछ के द्वारा घसीटे जाने" के समान है।

क्या हम व्यवस्थापिका के सदस्यों को अपनी इच्छानुसार व्यवस्थापिकाओं की वैठकों की मियाद घटाने वढ़ाने और अपने ही लिये ६०००० रुपे वार्षिक वेतन, रेल के ऊंचे दर्जे का-नौकर चाकरों सहित सफर ख़र्च और लम्वा चौड़ा भत्ता स्वीकार कर लेने को स्वतंत्र छोड़ दें? क्या हम किसी व्यवस्थापिका के सदस्य से यह आशा करते हैं कि वह अपने ही हाथों से अपने अधिकार कम कर देगा, अपनी शक्तियों को नियंत्रित कराएगा, चुनाव के क़ानूनों को वदल देगा, म्यूनिसिपल के मामलों में अपने अधिकार छोड़ देगा और कमीशन-रूल आदि निकालेगा? सिद्धान्त तो यह है कि वरिष्ठ-सत्ता अपने एजेंट की सम्मति के विना भी अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकती है।·········
उदाहरण के लिये स्विटज़रलैंड के मन्त्री, अधिकारी आदि सव वहां "संख्यानुपात चुनाव पद्धति" Proportional Represen

tation प्रचलित करने के विरोधी थे। परन्तु जनता चाहती थी और उसने 'इनीशियेटिव' के द्वारा वह प्रचलित कर दी।"
(Demands of Democray)

इसके अतिरिक्त आजकल व्यवस्थापिकाओं में जाने वालों पर इतने कृत्रिम प्रतिबन्ध हैं और उनकी चुनाव प्रणाली इतनी दूषित हैं कि उनमें ख़ास योग्यता वाले नहीं, प्रत्युत विशेष-साधनों से युक्त व्यक्ति ही जा सकते हैं। उम्मेदवार खड़ा होने वाला इतना किराया, इतना इन्कम्टैक्स, और इतना ज़मीन का लगान देने वाला या पाने वाला ही होना चाहिये। आदि, अर्थात् वौद्धिक योग्यता नहीं, साम्पत्तिक योग्यता उसकी कसौटी है। भेजे जाते हैं वे क़ानून बनाने और देश भर के हिताहितों पर विचार कर कार्य करने के लिये और उनकी योग्यता परखी जाती है सम्पत्ति से।

इनके अलावा और भी अयोग्यताएँ हैं जो कम हास्यास्पद नहीं हैं। उदाहरणार्थ स्त्री (गोया स्त्रियों ने निर्बुद्धिता का ठेका ले लिया है), अपरिपक्व आयु, पिछड़ी जातियों के लोग, धनहीन, अनिवासी-अर्थात् चुनाव-क्षेत्र में न रहने वाले और किसी अपराध के लिये सज़ा पाए हुए।

इनमें से किसी एक के लिये भी यह कोई नहीं कह सकता कि इनमें क़ानून बनाने की योग्यता रखने वाले व्यक्ति हो ही नहीं सकते। फिर भी इन कृत्रिम अयोग्यताओं द्वारा न केवल उनकी उस योग्यता का लाभ जनता को मिलने के द्वार वन्द कर दिये जाते हैं, प्रत्युत उन्हें अपनी उस योग्यता को अपने हृदय में ही दवाये हुए चिता में लेजा कर अपने साथ भस्म कर देने के लिए वाध्य किया जाता है। क्योंकि जिस योग्यता के लिए श्वास लेने को अवकाश ही नहीं, वह बाहर कैसे आ सकती है?

'इनीशियेटिव' के द्वारा जनता को ऐसी सब शक्तियों का लाभ मिल सकता है। इसके अतिरिक्त 'जन-सत्ता' को चरितार्थ करने में जहाँ अकेली 'रिफैरेण्डम' की पद्धति असफल होती है, वहाँ "इनीशियेटिव" उसकी पूर्ति का प्रयत्न करता है। कारण, कि पहली पद्धति द्वारा तो जनता केवल व्यवस्थापिका या केन्द्रीय सर्कार के कामों और इरादों पर अपना फैसला देती है और अंकुश रखती है। परन्तु पिछली पद्धति के द्वारा वह स्वयं उनका या उनके द्वारा उपेक्षित व्यवस्था का काम करती है। इस प्रकार पहली पद्धति का ध्येय शासन पर नियंत्रण रखना है, तो दूसरी का स्वयं प्रत्यक्ष शासन करना है। अस्तु,

व्यावहारिक रूप

अब हम "इनीशियेटिव" का व्यावहारिक रूप पाठकों के सामने रखते हैं। कहना व्यर्थ है कि 'रिफैरेण्डम' की तरह भिन्न-भिन्न देशों और जिलों में इसके भी अनेक रूप हैं।

उदाहरण के लिये अमेरिका के प्रांतों वा राज्यों में १० प्रतिशत और छोटे जिलों में ५ प्रतिशत मतदाता अपने हस्ताक्षरों से युक्त पत्र द्वारा यह मांग कर सकते हैं कि हमारे प्रस्तुत किये हुए प्रश्न वा क़ानून पर लोकमत लिया जाय।

तैक्षस (Texas) में १० प्रतिशत मतदाता हस्ताक्षर करके किसी दल पर जनता के विश्वास वा अविश्वास का प्रस्ताव तक ला सकते हैं। इसे "पार्टी इनीशियेटिव" कहते हैं। (Beard's Documents on the Initiative, Referendum & Recall)

परन्तु आम तौर पर 'रिफ़ैरेण्डम' की अपेक्षा "इनीशियेटिव" के पत्र पर अधिक मतदाताओं के हस्ताक्षर लिये जाते हैं। नीचे दी हुई सूची से यह विषय और भी स्पष्ट हो जायगा:—

देश या ज़िला	'रिफ़ैरेंडम'के लिये हस्ताक्षर,	इनीशियेटिव के लिये
स्विटज़रलैंड	३००००	५००००
जर्मनी	५ प्रतिशत	५ प्रतिशत
जुग	५००	१०००
बसले, शफ़हौसेन	१०००	१०००
न्युशातल	३०००	३०००
सेण्ट गाल	४०००	४०००
ल्युसेरने, टिसनो	५०००	५०००
वौद	६०००	६०००
अर्केसास	५ प्रतिशत	८ प्रतिशत
कैलिफोर्निया	"	"
कोलोरदो	"	"
मिस्सौरी	"	"
मोनटना	"	"
उक्तहोम	"	"
उरगौन	"	"
मैन	१००००	१२०००

फारम्युलेटेड इनीशियेटिव

प्रारम्भ में 'इनीशियेटिव' के द्वारा प्रस्ताव और क़ानून तो बन सकते थे, परन्तु पहले के बने देश-व्यापी क़ाननूों में संशोधन नहीं हो सकता था। उनमें संशोधन व्यवस्थापिकाऐं ही कर सकती थीं। किंतु जनता के आग्रह पर सन् १८६१ में यह अधिकार भी उसे पहिले स्विटजरलैंड में और पीछे अन्यत्र मिल गया।

इस पद्धति के अनुसार नागरिक, योग्य व्यक्तियों से अपनी पसन्द के क़ानूनों या संशोधनों के मस्विदे तयार करा लेते हैं और फिर संगठित रूप से उसके लाभ हानि जनता को समझाते हैं। विरोध करने वाले उसका विरोधी पक्ष जनता के सामने

रखते हैं। फिर हस्ताक्षर लिये जाते हैं और जब पूरे हस्ताक्षर हो जाते हैं, तब सरकार उस पर 'रिफ़ेरेण्डम' लेने को बाध्य हो जाती है। इसे "फ़ौरम्युलेटेड इनीशियेटिव" कहते हैं।

जनरल इनीशियेटिव

दो कैंण्टन्स में इसके विपरीत, आवश्यक हस्ताक्षरों से युक्त प्रस्ताव या मस्विदा आते ही, कौंसिल उसके मूल सिद्धांत जनता में वितरण कराकर इस बात पर उसका मत ले लेती है कि इस प्रकार का क़ानून बनना आवश्यक है या नहीं। यदि जनता विपक्ष में मत देती है तो प्रस्ताव गिर जाता है। यदि पक्ष में देती है, तो कौंसिल उसका नियमित मस्विदा तयार कर उस पर फिर लोकमत लेती है।

जो, मतदाताओं का बनाया हुआ प्रस्ताव या क़ानून, केन्द्रीय सर्कार को पसन्द आ जाता है वह साधारण रूप में भी पेश किया जाय तो सर्कार उसे स्वीकार कर विशेषज्ञों द्वारा उसका मस्विदा तैयार कराती है। फिर उस पर कार्यकारिणी, विचार, और आवश्यक परिवर्तन-परिवर्द्धन कर,उसेव्यवस्थापिकाको भेज देती हैं। व्यवस्थापिका में फिर उस पर विचार, संशोधन आदि होते हैं और तब उस पर लोकमत लिया जाता है। से "जनरल इनीशियेटिव" कहते हैं।

आम तौर पर 'इनीशियेटिव' का प्रयोग जनता बहुत कम करती है। बहुधा छोटे-मोटे दल या अल्पसंख्यक समूह ही इसका आश्रय लेते हैं। नीचे लिखे अंक इस बात के स्पष्ठ प्रमाण हैं कि इस पद्धति के विरुद्ध जितनी बातें लोगों ने कही थीं, वे अनुभव से कितनी बे बुनियाद साबित हुई हैं:—

ज़िले	वर्ष	'इनीशियेटिव' की संख्या	कितने स्वीकृत
वौद	१८४५ से १९१२ तक	७	३
वर्न	१८६३ से १९१२ ,,	६	४
ज़ूरिच	,, से १९०८ ,,	११	१
आरगाउ	१८६३ से १९१२ ,,	६	३
थुरगाउ	,, ,, ,, ,,	३	१
सेंट गाल	,, ,, ,, ,,	३	१
जेनेवा	,, ,, ,, ,,	६	२
वसले (नगर)	,, ,, ,, ,,	१२	२

इन में बहुत से प्रस्ताव क्रांतिकारी और धनिकों की सम्पत्ति पर हाथ डालने वाले भी थे, परन्तु जनता ने सब अस्वीकार कर दिये। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि वर्ग शासन में शिक्षित कहलाने वाले दल इतने दायित्व हीन हो जाते हैं कि वे प्रजा को चूसने वाले और उसका जीवन कष्ट मय वना देने वाले क़ानून घड़ते किंचिद् भी नहीं हिचकते, किन्तु अशिक्षित और उनकी घृणा की पात्र जनता कभी उतनी स्वार्थी, अनुदार और अत्याचारी नहीं वनती।

यह प्रथा अनेक देशों में इतनी लोकप्रिय हो गई है कि वह म्युनिसिपैलिटीज़ में तो प्रायः अमेरिका, स्विटज़रलेंड और जर्मनी के प्रत्येक शहर में प्रचलित है। हाँ, प्रत्येक जगह 'इनीशियेटिव' के प्रयोग के लिए मतदाताओं के हस्ताक्षरों की संख्या भिन्न-भिन्न है।

कहीं२ यदि 'इनीशियेटिव' द्वारा आए हुए प्रस्ताव, संशोधन या क़ानून को म्यूनिस्पिल कौंसिल ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेती

है तो उस पर लोकमत नहीं लिया जाता। हाँ यदि उसमें कुछ संशोधन किया जाय तो मूल और संशोधित दोनों पर लोकमत लिया जाता है। (Commission Government. Page 153-162, Beard's American City Government Page 68 & Burnett's Operation of the Initiative, Referendum and Recall in Oregon.)

"इनीशियेटिव" की मियाद के लिये प्रायः वे ही नियम हैं, जो रिफ़ैरेण्डम' के। हाँ, जिलों में कहीं २ प्रस्तावित क़ानून या संशोधन के पक्ष में प्रस्तावक की दी हुई मुख्य दलील भी ज़िला कौंसिल की तरफ़ से छपवा कर मतदाताओं में वांटी जाती हैं।

ज़िले का 'इनीशियेटिव'

यदि कोई कैण्टन कोई नया क़ानून वा संशोधन रखना चाहती हैं, तो वह कैण्टन की कौंसिल में रक्खा जाता है। कौंसिल के स्वोकार कर लेने पर वह दूसरी कैण्टन्स की कौंसिलों को भेजा जाता है। यदि ८ कैण्टन्स उसका समर्थन कर देती हैं तो केन्द्रीय सरकार उस पर रिफ़ैरेण्डम लेने को वाध्य हो जाती है।

मत लेने का समय

'इनीशियेटिव' द्वारा जितने क़ानून या संशोधन आते हैं, उन में कोई अत्यन्त आवश्यक हो, तो उस पर जल्दी लोकमत लिया जाता है। अन्यथा प्रत्येक जिले में और केन्द्रीय सरकार की ओर से भी वर्ष में दो या तीन ऐसे सप्ताह निश्चित कर दिये जाते हैं, जिनमें ऐसे सव क़ानूनों और संशोधनों पर मत ले लिये जाते हैं।

कुछ विशेष संरक्षण

हम बता चुके हैं कि यह सब होते हुए भी स्वार्थी दल बीच २ में अपनी चालें चलते रहते हैं। जब 'रिफ़ैरेण्डम' का प्रश्न उठा था और वह स्वीकार किया जा रहा था, तब स्विस संघ के प्रेसिडेण्ड रहे हुए वहीं के एक नेता मि० वैल्टी ने उसका विरोध किया था। उसने जनता का मज़ाक़ उड़ाते हुए कहा था कि:—

"एक ग्वाले या साईस के, कमर्शल कोड बग़ल में लेकर, उस पर मत देने को जाते हुए की कल्पना तो करो, कितनी हास्यास्पद बात मालूम होती है ?"

यद्यपि उनके इस प्रलाप को अनुभव और जनता ने झूठा साबित कर दिया और आज वहां की जनता इस प्रकार के राजनैतिक दलों और नेताओं की बातों पर अमल न कर के अपनी स्वतंत्र बुद्धि का उपयोग करती है, तथापि ऐसे लोगों को जब अवसर और अधिकार मिलता है, तब वे अपनी चाल से बाज़ नहीं आते।

ऐसे लोगों के अपने अधिकार बढ़ाने के कुछ उदाहरण हम ऊपर दे चुके हैं। एक और भी चालाकी वे करते थे। सर्वत्र की तरह वहां भी व्यवस्थापिका को क़ानूनों में संशोधन करने या उन्हें रद्द कर देने का अधिकार था ही। प्रेसिडेण्ट को भी विशेष अवस्थाओं में किसी क़ानून को स्थगित या नामंजूर कर देने के अधिकार थे। इसी प्रकार व्यवस्थापिका को बिना 'रिफ़ैरेण्डम' के कानून जारी करने का तो अधिकार न था, परन्तु ज़रूरी प्रश्न उपस्थित होने पर प्रस्ताव पास करने का अधिकार था। ये प्रस्ताव तात्कालिक आवश्यकताओं के लिये आर्डिनेन्सों के समान ही होते थे।

बस इन्हीं अधिकारों का उपयोग करके उन्हों ने जनता के बनाए क़ानूनों को रद्द और स्थगित करना एवं प्रस्तावों के बहाने अपने अनुकूल क़ानून आदि बनाने शुरू कर दिये।

परन्तु जनता ने जल्दी ही उनकी इस चाल को परख लिया और उसने उन का इलाज नीचे दिये संरक्षणों द्वारा कर दिया, अर्थात् जनता ने क्रमशः निम्न नियम बना दियेः—

१—कोई जरूरी कानून(Emergency Bill) या प्रस्ताव म्यूनिसिपैलिटियों के स्वशासन के अधिकार कम न कर सकेगा।

२—किसी का मताधिकार एवं किसी संस्था या व्यक्ति का 'लाइसेन्स' एक वर्ष से अधिक के लिए स्थगित न कर सकेगा।

३—किसी जायदाद या जिमीदारी को मोल लेने, बेचने, या पांच साल से अधिक के लिए किराये पर लेने का अधिकार न देगा।"

पाठक समझ सकते हैं कि ये सब उपाय अपने दल के मतदाता बढ़ाने के लिए व उन्हें मताधिकार दिलाने के लिए एवं विपक्षी दल के मत घटाने के लिये आज भी काम में लाये जाते हैं। इसी चाल को रोकने के लिए ये नियम हैं। इसी प्रकार Oregon के एक क़ानून में कहा गया है किः—

४—"कोई जरूरी क़ानून, किसी पद को मंसूख करने वाले या नया उहदा बनाने वाले, अथवा अधिकारियों के वेतन, नौकरी की मियाद एवं उनके कर्तव्यों में परिवर्तन करने वाले क़ानूनों को स्थगित या रद्द नहीं कर सकेगा।"

इसी तरह कैलिफोर्निया में—

५—"किसी ज़रूरी क़ानून या प्रस्ताव के द्वारा किसी व्यक्ति को मताधिकार, कोई विशेष अधिकार, कोई विशेष सुविधा और कोई विशेष आय का साधन न दिया जायगा।"

मि० Lowell ने अनेकों प्रमाण देकर बतलाया है कि इन अधिकारों का अधिकारियों ने काफी दुरुपयोग किया था। अकेले दक्षिणी डकोटा में १२५१ क़ानूनों में से, ज़रूरी प्रस्तावों द्वारा ५३७ क़ानूनों पर जनता का मत नहीं लिया था। इसीलिए वहाँ की जनता ने अन्त में निश्चय कर दिया कि:—

६—"कोई ज़रूरी क़ानून बनाया जाय तो व्यवस्थापिका उसके तत्काल प्रयोग में लाए जाने की आवश्यकता प्रमाणित करने वाले कारण उसके साथ छापे। इसके बाद यदि उसे दोनों व्यवस्थापिकाओं के निर्वाचित सदस्यों के दो तिहाई मत मिल जायँ और म्यूनिस्पैलिटी के (तीन चौथाई) निर्वाचित सदस्य उसके पक्ष में मत दे दें, तथा गवर्नर भी उसकी स्वीकृत दे दे, तो वह बिना जनता का मत लिये अमल में आ सकता है।

(अ) यदि गवर्नर स्वीकृति न दे और उसका बनना जरूरी हो, तो वह फिर दोनों व्यवस्थापिकाओं में रक्खा जाय। इस प्रकार दुबारा रखने पर यदि उसे दोनों सभाओं में—प्रत्येक में—निर्वाचित सदस्यों के (तीन चौथाई) मत मिल जायँ, तो वह अमल में लाया जा सकता है।"

७—इसी भाँति विस्कौन्सिन में:—"कोई ज़रूरी क़ानून ३० दिन से अधिक, बिना जनता की स्वीकृति के अमल में न लाया जायगा। अर्थात् आवश्यक स्थिति का सामना करने के लिये व्यवस्थापिका उसे स्वीकृत कर अमल में ले आ सकती है, परन्तु एक मास के भीतर उसे जनता से स्वीकार

करा ही लेना चाहिये, अन्यथा, वह अपने आप रद्द हो जायगा।"

इस प्रकार जब बुराई के प्रायः सब मार्ग बन्द हो गए और यह प्रमाणित हो गया कि साधारण जनता की सामुहिक बुद्धि शिक्षित व्यक्तियों और उनके छोटे मोटे दलों से अधिक विचार-शील, दीर्घ-दर्शी और उदार है, तब उन्होंने "एक सुशील लड़के" या "जिम्मेदार प्रतिनिधि" की तरह काम करना शुरू किया। स्पष्टतः इस प्रकार विवश हुए बिना ठीक रास्ते पर न आने की मनोवृत्ति के कारण हज़ारों वर्षों से चले आने वाले हमारे सामाजिक और आर्थिक भेद-भावों से उत्पन्न संस्कार ही हैं।

कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि जो लोग रूस की "लाल क्रांति" के दिन नहीं देखना चाहते, उनके हित की दृष्टि से भी अब तक के आविष्कृत नुस्खों में ये ही सर्वोत्तम हैं। और यह तो संसार भर के इतिहास का फैसला है ही, कि जब तक समाज में भेद-भाव वर्तमान हैं, लाखों में एकाध व्यक्ति भी कठिनता से ऐसा मिल सकता है, जो इन भेद भावों से सब अवस्थाओं में ऊपर रह सके। इसी लिए एकतंत्री-सत्ता का विरोध उसके जन्म काल से होता रहा है और आज वह नाम मात्र को कहीं कहीं वर्तमान है। ऐसी दशा में किसी एक वर्ग के हाथ में शासन के अस्त्र बनाने का सर्वाधिकार भी ख़तरे से खाली कैसे प्रमाणित हो सकता था? वही हुआ भी और उसी का फल आज का विश्वव्यापी प्रतिनिधि-तंत्रों और नियन्त्रित राज्यतन्त्रों के प्रति घोर अविश्वास है। 'रिफ़ैरेण्डम', 'इनीशियेटिव' और 'रिकाल' की त्रिपुटी इस अविश्वास के सब से अधिक कारणों को दूर कर देती है। इस के द्वारा जनता स्वयं एक तीसरी व्यवस्थापिका सभा बन जाती है। इस प्रकार तीनों ही व्यवस्थापिकाएँ शासन के अस्त्र बनाने और उसे चलाने को स्वतंत्र भी रहती हैं और प्रत्येक दूसरी के

दबाव और प्रभाव से 'दायित्व' की भावना के साथ भी चलती हैं। संक्षेप से कहें तो शेर-बकरी को एक घाट पानी पिलाने और एक साथ रखने की यदि कोई व्यवस्था हो सकती है तो वह यही हो सकती है।

सफलता के मुख्य साधन

किन्तु जैसा कि हम कह चुके हैं, इसकी सफलता कुछ विशेष स्थितियों पर निर्भर है। वे सब तो यहाँ नहीं दी जा सकतीं; परन्तु उनमें से मुख्य-मुख्य संक्षेप से हम यहाँ पाठकों की जानकारी के लिए रखते हैं:—

१—स्विटज़रलेंड में इसकी सफलता का रहस्य यह है कि वहाँ चुनाव की पद्धति ऐसी है, जिसमें उम्मेदवार को न तो विशेष व्यय करना पड़ता है और न उसके लिए यह आवश्यक है कि उसमें कोई विशेष साम्पत्तिक योग्यता हो। चाहे तो वहाँ निःसंकोच एक गरीब किसान या मज़दूर भी खड़ा हो सकता है। मत लेने आदि की व्यवस्था का सारा खर्च सरकार उठाती है। मतदाताओं के लिए कैम्प आदि भी उम्मेदवार को नहीं बनाने पड़ते। न ही उसे विशेष प्रचार करना पड़ता है। उसे राजनैतिक जीवन बनाने में यदि कुछ खर्च करना पड़ता है तो केवल समय या इधर-उधर जाने आने का किराया। विस्काउंट ब्राइस के शब्दों में— "इंग्लेंड में जितना एक उम्मेदवार को अपनी सफलता के लिए खर्च करना पड़ता है, उतने में वहाँ सारे देश की व्यवस्थापिका सभा का चुनाव हो जाता है।"

२—चुनाव के आस-पास किसी उम्मेदवार का किसी संस्था या व्यक्ति को दान व पुरस्कार देना वर्जित है। क्योंकि आम

तौर पर चुनाव की रिश्वत इसी रूप में दी जाती है। इस लिए मतदाताओं को खरीदने का द्वार प्रायः बन्द-सा है।

३—सरकार या कौंसिलों को विना जनता की स्वीकृति न किसी को कोई 'पदवी' देने का अधिकार है, न आजीविका (जागीर आदि) न ठेके आदि लाभ के अन्य साधन। और चूंकि जो दल जीत जाता है, वह (प्रतिनिधितन्त्रों में) इस ही प्रकार की खैरातों द्वारा अपने पक्ष के मतदाताओं के नेताओं को सन्तुष्ट किया करता है, अतः इस साधन के अभाव के कारण वहाँ दलबन्दी का महत्व नहीं बढ़ पाता।

४—उपरोक्त व्यवस्था के कारण वहाँ न धनिक प्रजा को अधिक चूस सकते हैं न शासक, और इसलिये लोगों को गहरी दरिद्रता के कष्ट का अनुभव नहीं होता। फल यह होता है कि वहाँ भूख बुझाने के लिए कोई किसी दल का अनुयायी नहीं बनता। साम्यवादी तक वहाँ के युवक रोटी के प्रश्न से तंग आकर नहीं बनते। जो जिस राजनैतिक विचार को अपनाता है,वह उसकी उपयोगिता का क़ायल होने ही के कारण अपनाता है। इसी लिए वहाँ केवल सच्चे सिद्धांतों, एवं सच्चे सिद्धांतवादियों को ही कुछ अनुयायी मिलते हैं।दूसरे देशोंकी तरह राजनैतिक व आर्थिक लाभ के लिए "गंगा गए गंगा-दास, जमुना गए जमुनादास" वाली कहावत चरितार्थ करने वालों का वहाँ प्रायः अभाव है।

५—इस पद्धति की बदौलत सम्प्रदायवादियों और नक़ली राजनैतिक 'लेवल' लगाने वालों की दाल नहीं गलती। अनुभव से जनता इनकी दलबन्दियों का खोखलापन समझ गई है और वह उनकी बातों पर आवश्यक से अधिक ध्यान नहीं देती। इसके अतिरिरिक्त सर्वसाधारण को मताधिकार है। और

सर्वसाधारण में सदा बहुमत ऐसा रहता है, जो न्याय-निष्ठता की ओर झुकता है। क्योंकि ग्रामों में कहीं भी विशेष धार्मिक द्वेष नहीं होता। यह तो शहरों ही की बरकत है और उसका क्षेत्र अधिकांश में शहर के आस-पास ही रहता है।

६—अधिकारियों को न बड़ी-बड़ी पेन्शनें मिलती हैं और न विशेष मान आदि। फलत: वहाँ किसी पद का कोई महत्व नहीं है। और जीतने वाले दल इसी पुरस्कार का प्राय: मतदाताओं से इक़रार किया करते हैं।

७—सब मुख्य क़ानून स्वीकृति के लिए जनता के सामने रक्खे जाते हैं और इसलिये व्यवस्थापिका ही क्या, सरकार तक में किसी दल की प्रधानता का कोई मूल्य नहीं होता। धनिक लोग जानते हैं कि इन्हें खरीदने से कोई लाभ नहीं। और सारी जनता को खरीदने या खुश करने के लिए किसी के पास साधन नहीं हो सकते।

८—अप्रिय और जनता के कोपभाजन बन जाने के भय से कोई दल अपनी वृद्धि के लिए बहुत उग्र उपायों से काम नहीं लेता।

९—दिन-रात शासन में सीधा भाग लेने से साधारण जनता राजनीति की पेचीदगियों को बहुत कुछ समझ गई है और अब वह किसी के धोखे में नहीं आती।

१०—चुनाव के क्षेत्र छोटे-छोटे बना दिये गये हैं। उनमें से उनके जाने-पहचाने व्यक्ति ही खड़े होते हैं और चुनाव की व्यवस्था भी जनता के चुने हुए व्यक्तियों द्वारा ही होती है।

११—ग्राम-पंचायतें जीवित और सुसंगठित हैं और इसलिए शहरों में सुसंगठित हुए दल वहां के मतदाताओं को अपने प्रभाव क्षेत्र में नहीं ला सकते।

१२—न्यायाधीश, मन्दिरों के पुजारी, रजिस्ट्रार और शिक्षा विभाग के अधिकारी व अध्यापक जनता द्वारा चुने जाते हैं या अन्य विधानों द्वारा उनकी चोटी प्रत्येक जिले की जनता के हाथ में होती है और इसलिए वे संगठित रूप के किसी राजनैतिक दल से नहीं मिलते और मिल पाते। न वे मत-दाताओं पर प्रभाव डालते हैं।

१३—व्यवस्थापिका के सदस्यों को इतनी मामूली आय होती है कि योग्य व्यक्ति अन्य व्यवसाय द्वारा उससे बहुत अधिक कमा सकता है। इसलिए चालाक और लालची लोगों को उनमें जाने के लिए प्रोत्साहन नहीं मिलता।

१५—महत्वपूर्ण वैदेशिक संधियाँ भी जनता के सामने रक्खी जाती हैं और इसलिये कोई दल अकेला वैदेशिक व्यापार आदि से भी व्यवस्थापिकाओं व मंत्रिमण्डल द्वारा लाभ नहीं उठा सकता।

१६—व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी की मियाद कुल तीन वर्ष की होती है।

१७—जनता जब चाहे, किसी सदस्य वा दल को व्यवस्थापिका से हटा सकती है।

इन सब बातों के कारण ही वहाँ वे खराबियाँ सार्वजनिक जीवन में प्रवेश नहीं कर पातीं, जिनसे दूसरे देश पीड़ित हैं। और यही कारण है कि वि० ब्राइस के शब्दों में "स्विटजरलैंड का शासन सबसे सस्ता (लोगों पर सब देशों से कम टैक्स लगाने वाला) और साथ ही सब से अधिक सुव्यवस्थित है। न्याय शुद्ध और सस्ता है। शिक्षा का खूब प्रचार है। प्रायः प्रत्येक ग्रामीण पढ़-लिख सकता है। म्यूनिसिपल शासन आदर्श

है। सड़कें और सार्वजनिक स्थान प्रशंसनीय हैं। सर्वत्र शान्ति है। सेना विभाग अच्छा है और जनता सैनिक शिक्षा पाती है। व्यक्ति की, बोलने की और लिखने की पूरी स्वतंत्रता है और सब लोगों में दायित्व की भावना है। छुटाई-बड़ाई की भावना का अभाव है और आर्थिक असमानता भी और देशों से बहुतकम है। जमींदार प्रायः हैं ही नहीं। पेशेवर राजनीतिज्ञ देखने को भी नहीं मिलते।" (Modern Democrcaies Vol I & II)

इनीशियेटिव या
विधान निर्माणाधिकार की दरख्वास्त
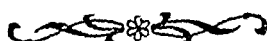
सेवा में श्रीमान्.......................................

हम नीचे हस्ताक्षर करने वाले..........राज्य के नियमित मतदाता......नगर व जिले के निवासी सादर आदेश (Order) देते हैं कि अमुक नाम का क़ानून या अमुक आज्ञा या क़ानून के लिए प्रस्तावित अमुक संशोधन सार्वजनिक स्वीकृति या अस्वीकृति के लिए जनता के सामने........तारीख तक पेश कर दिया जाय।

रिफैरेण्डम की तरह

हस्ताक्षर

नोट—यह दरख्वास्त सरकारी क़ानूनों आदि पर ६ मास के भीतर और जिला बोर्ड, चुंगी आदि के फैसलों के विरुद्ध तीन मास के भीतर पेश हो जानी चाहिये।

PLEBISCITE प्लैबिस्साइट या आत्मनिर्णय

यह "रिफ़ैरेण्डम" का ही एक भेद है। कानूनों पर लोकमत का फैसला, जिस प्रकार 'रिफ़ैरेण्डम' कहलाता है, उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण प्रश्नों या राष्ट्रों पर विश्वास-अविश्वास के प्रश्नों पर जब लोकमत द्वारा निर्णय कराया जाता है, तब उसे "प्लैबि-स्साइट" कहते हैं।

परन्तु यह 'रिफ़ैरेण्डम' का भेद उसी अंश में है, जहाँ तक 'लोकमत लेने' के उद्देश्य का सम्बन्ध है। अन्य बातों में उसका वास्तविक लोकमत होना या न होना बहुत कुछ उस स्थान की परिस्थिति पर निर्भर है। कारण स्पष्ट है। 'रिफ़ैरेण्डम' एक व्यवस्थित स्थिति और शासन व्यवस्था में प्रयुक्त होने वाला अस्त्र है, एवं इस लिये उसका परिणाम भी बहुत कुछ वही होता है, जो होना चाहिए और जिसके लिए उसका आविष्कार हुआ है।

परन्तु "प्लैबिस्साइट" प्रायः ऐसी स्थितियों में लिया जाता है, जिनमें लोग कदाचित ही सर्वथा स्वतंत्र और निःशङ्क भाव से अपना मत दे सकते हैं। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि यह बहुत प्राचीन और उपयोगी पद्धति है और यदि इसका ठीक-ठीक उपयोग हो, तो संसार की आज की बहुत सी कठिनाइयाँ इसके द्वारा हल हो जाती हैं।

एक प्रकार से यह जनता के आत्म-निर्णय के सिद्धांत को व्यावहारिक रूप देने का सब से बड़ा साधन है।

व्यावहारिक विधि

वैसे इसकी व्यावहारिक विधि सरल है। अर्थात् जिस प्रश्न पर लोकमत लेना हो उसकी तिथि कुछ मास पूर्व निश्चित हो

जाती है। इस के वाद पक्ष विपक्ष के प्रचारक जनता को अपने-अपने पक्ष में लाने के लिए प्रचार करते हैं एवं अन्त में निश्चित तिथि पर उस पर रिफ़ैरेण्डम की पद्धति द्वारा लोकमत ले लिया जाता है, जो कानून की तरह दोनों दलों को मानना पड़ता है।

स्थिति का अन्तर

पाठक देखेंगे कि वैसे इस में और रिफ़ैरेण्डम में कोई अन्तर नहीं है। परन्तु जैसा कि हम कह चुके हैं, दोनों के व्यवहार की स्थिति सर्वथा भिन्न होती है। क्योंकि 'रिफ़ैरेण्डम' तो जनता और जनता के प्रतिनिधियों के वीच में ही होता है। परन्तु "प्लैविस्साइट" प्रायः दो स्वतंत्र शासकों और जनता के वीच में होता है।

उदाहरण के लिये दो राज्यों के प्रभावक्षेत्र में एक स्वतंत्र प्रदेश है। इस प्रदेश में या तो कोई सुगठित राज्य नहीं है, अथवा है, तो छोटाहोने के कारण अपनी रक्षा करने में असमर्थ है। स्वभावतः उसे दोनों ही शासक या राज्य अपने अपने राज्य में मिला लेने को उत्सुक हैं। दोनों ही उसे हथियाने को अप्रत्यक्ष चालें चलते हैं और साथ ही एक दूसरे की चालों को व्यर्थ वनाते हैं।

साथ ही मान लीजे कि या तो उक्त प्रदेश या राज्य इतना छोटा है कि उस के लिये युद्ध की जोख़म लेना वेकार है, अथवा अन्य परिस्थितियां ऐसी हैं कि जिन के कारण युद्ध द्वारा इस प्रश्न का निर्णय करना उचित नहीं है।

ऐसी दशा में दोनों इस वात पर सहमत हो जाते हैं या कर लिये जाते हैं कि इस प्रश्न का निर्णय उक्त-प्रांत की जनता से

ही करा लिया जाय। उसमें से बहुमत जिस राज्य में शामिल होना चाहे, हो जाय।

इसके बाद दोनों की ओर से यह प्रयत्न शुरू होता है कि जनता हमारे पक्ष में मत दे। साथ ही, इस सम्बन्ध में कोई पक्ष अनुचित रीति से मत प्राप्त करने की चेष्टा न करे, इसकी शर्तें दोनों ओर से रक्खीं और तय की जाती हैं। इसके लिये बहुधा किसी मित्र या निर्पेक्ष राज्य के प्रबन्ध और उसकी देख-रेख में काम होता है एवं अन्त में उस प्रान्त का बहुमत जिस राज्य के पक्ष में हो, उसमें वह प्रदेश मिला दिया जाता है। दोनों ओर से उक्त भू भाग के निवासियों को भिन्न भिन्न प्रकार के प्रलोभन और मुखियाओं को आश्वासन दिये जाते हैं।

कहीं-कहीं की जनता स्थायी रूप से अपने भाग्य का फैसला करने से इन्कार कर देती है और केवल दस, बीस या तीस वर्ष की मियाद निश्चय होती है। वैसी दशा में उक्त फैसला उसी मियाद तक क़ायम रहता है। उसके बाद फिर, यदि वही स्थिति बनी रहे तो, प्लैबिस्साइट द्वारा उसका भविष्य-निर्णय होता है।

वास्तविक रूप

यह इसके आधुनिक रूपों में से एक है। इसका असली रूप इससे उत्कृष्ट है और उसके दर्शन संसार के अन्धकार में पड़े हुए इतिहास के खंड़हरों में कभी-कभी हो जाते हैं। हमारे देश के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि इसका जन्म सुदूर प्राचीन काल में 'जातियों' Tribes के युग में हुआ था। क्रमशः जब स्वतंत्र जातियों ने राज्यवाद से अपनी रक्षा के लिए 'संघ' बनाने शुरू किये, तब ऐसे प्रदेशों के बारे में, जिनमें दो या अधिक जातियाँ बसी होती-

थीं, प्रायः आपस में विवाद खड़ा हो जाता था कि उन्हें किस संघ में मिलना चाहिये। और चूँकि उद्देश्य सबका एक होता था और साथ ही सभी प्रजावादी शासन के पक्षपाती होते थे—इस संघ-संगठन का ध्येय भी अपनी आस्तित्व रक्षा होता था—अतः जनता स्वयं ही सार्वजनिक मत द्वारा इस प्रश्न का निर्णय करती थी। सिकन्दर की चढ़ाई के समय तक यह पद्धति प्रचलित थी और कई जातियों ने उस समय भी उसकी वश्यता स्वीकार करने न करने के प्रश्न का निर्णय इस प्रकार सार्वजनिक मतद्वारा किया था। ऐसे और भी बहुत से उदाहरण हैं, जिन्हें हम एक दूसरी "प्राचीन प्रजातंत्रों" सम्बन्धी पुस्तक में देंगे। यहाँ हमने उसके मूल रूप की किंचिद् झलक दिखा देने के उद्देश्य से इतना-सा उल्लेख कर दिया है।

किन्तु आधुनिक युग में इसका पुनर्जन्म जिस रूप में हुआ और अब जिन रूपों में इसका विकास हो रहा है, वे प्रायः सर्वथा दूसरे हैं। उदाहरण के लिए इस युगमें सब से पहले फ्रांस में, फ्रान्स की प्रसिद्ध क्रान्ति के बाद इसका प्रयोग हुआ था। उस समय प्रजा के सामने सन् १७९३ में यह प्रश्न रखा गया था कि वह राज (एक तन्त्रीय) व्यवस्था में रहना चाहती है या प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में।

सन् १७८१ से सन् १७८३ के बीच में ही फ्रांस ने इटली के जो भाग जीत लिए थे उनमें से अविग्नोन, सवॉय और नीस की जनता में इस बात पर 'प्लैबिस्साइट' लिया गया था कि वे फ्रांस के आधीन रहना चाहते हैं या इटली के, और अन्त में बहुमत के अनुसार ये प्रान्त फ्रांस में मिला लिये गये थे। इसी तरह सन् १७९८ में मुलहौसन और जेनेवा के प्रजातन्त्र फ्रांस के प्रजातन्त्र में मिला लिये गये थे।

सन १८४८, १८६० और १८७० में "प्लैबिस्साइट" के द्वारा ही इटली ने ये भाग फिर वापिस ले लिये।

परन्तु ये मत जिस तरह लिये गए थे, उनको देखते हुए इन्हें लोकमत का प्रदर्शन कहना, 'लोकमत' शब्द का मजाक उड़ाना है। क्योंकि इन्हीं के सम्बन्ध के साहित्य से यह स्पष्ट है कि ये मत केवल चालबाजी द्वारा ही नहीं प्रत्युत भयानक अत्याचारों और आतंक एवं घूंस द्वारा प्राप्त किये गये थे।

सन् १७६६ ई० में फ्रान्स में फिर "प्लैबिस्साइट" का ढोंग रचा गया और उसके द्वारा ३ डिक्टेटर बनाए गए। इसके एक वर्ष बाद ही इसी विधि द्वारा पहले नैपोलियन फ्रान्स का आजीवन प्रेसिडेन्ट बना और उसके बाद सन् १८०४ में वंशपरम्परागत सम्राट बन गया। (Historians' History Vol. XII Page 411 to 415 and, A Monograph on Plebiscites by S. Wambaugh, New york).

प्लैबिस्साइट के इन परस्पर विरोधी परिणामों को देखकर बहुत लोग इस संस्था और पद्धति को ही त्याज्य समझने लगे हैं। Mr. Yves Guyot ने तो यहाँ तक कह दिया है कि "वास्तव में प्लैबिस्साइट मतदाताओं को आत्मघात कर लेने का आमंत्रण है।" परन्तु जैसा हम बता चुके हैं, ये सब इस पद्धति के दुरुपयोग का परिणाम है। जिस तरह साम्राज्यवादियों ने प्रतिनिधि-तन्त्र और प्रजातन्त्र आदि का दुरुपयोग कर इन संस्थाओं को अप्रिय बना दिया है, ठीक वही दशा और गति इस "प्लैबिस्साइट" की है।

राज्य विस्तार का साधन

और अब तो प्राचीन कालीन धार्मिक-यज्ञ-पद्धति की तरह स्वार्थी लोगों ने इसे राज्य विस्तार का साधन बना डाला है। उदाहरण के लिये जब पिछले महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों की विजय हो गई और जर्मन शासन अस्त व्यस्त हो गया, तब जर्मनी के टुकड़े करने और उनमें से कुछ को हड़प जाने के लिए उन्हें 'प्लैबिस्साइट' द्वारा अपना भविष्य-निर्णय करने को कहा गया। जनता कुछ तो तत्कालीन शासन से ऊबी हुई थी। युद्धकाल में उसे और भी यातनाएं सहनी पड़ी थीं। यह भी आशंका होनी स्वाभाविक थी कि विजयी राष्ट्रों के विरुद्ध कुछ करने से उन्हें वे और सतावेंगे। इधर विजयी राष्ट्रों को, अन्य उपायों से भी लोगों को आतंकित करने का अवसर मिल गया था। परिणाम यह हुआ कि Schleswig (उत्तरी जर्मनी) डेन्मार्क में शामिल हो गया और Uupen तथा Malrnedy बेल्जियम में मिल गये। इसी प्रकार 'सार' प्रांत के लिए निश्चय हुआ कि उसका भविष्य-निर्णय १५ वर्ष बाद प्लैबिस्साइट द्वारा किया जाय।

सब से ताजा उदाहरण व्यक्तियों पर "प्लैबिस्साइट" द्वारा लोकमत लेने का, हिटलर का है, जो हाल ही में हुआ है।

इसका दुरुपयोग एक और तरीके से भी होता है। जिस भू भाग को कोई देश इस अस्त्र द्वारा हड़पना चाहता है, वह उसमें अपने देश या समुदाय के लोगों को भिन्न-भिन्न बहानों से और भिन्न-भिन्न अवसरों से लाभ उठाकर, बहुत बड़ी संख्या में आबाद कर देता है। और कई जगह तो अमेरिकन 'रेड इंडियन्स" या अफ्रीकन जातियों की तरह स्थानीय जनता को विभिन्न उपायों से नष्ट कर सर्वथा नगण्य ही बना दिया जाता है।

इन सब बातों से स्पष्ट है कि जिस प्रकार प्रजातंत्र, डिमौक्रेसी आदि नामों का दुरुपयोग कर वर्गशासन कायम किये और रक्खे जा रहे हैं, उसी प्रकार इस पवित्र संस्था का भी भरपूर दुरुपयोग किया जा रहा है।

वास्तव में इसका उपयोग होना चाहिये, प्रत्येक देश के लिए आत्म-निर्णय में। अर्थात् वह किस प्रकार की शासन व्यवस्था चाहता है ? इस समय वह जिस शासन में है, उसे वह नापसन्द करता है या नहीं ? आदि-आदि,

इसी प्रकार आज जगह-जगह देशी राज्यों से लिये हुए भूभागों और छावनियों आदि को लौटाने तथा बरमा, सीलोन आदि से भारत के सम्बन्ध आदि प्रश्नों पर इसका प्रयोग हो सकता है। परन्तु करे कौन और कहे कौन ? न प्रदेशों में इतना मनुष्यता का अभिमान है और न शासकों में उन्हें पालतू बन्दरों के जंगल से अधिक मूल्य देने की भावना।

RECALL रिकाल (पुनरावर्तन)
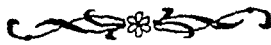
उपरोक्त त्रिपुटी के एक भाग का विवेचन रह गया था। वह है "रिकाल" की पद्धति। इसका अर्थ है वापिस बुलाना अर्थात् किसी नियुक्त व्यक्ति को पदच्युत करना।

आवश्यकता

इसकी आवश्यकता भी ऊपर के खण्डों में वर्णित अधिकारों के दुरुपयोग के कारण ही हुई। वैसे तो सिद्धान्त की दृष्टि से भी जन-सत्ता की पूरी स्थापना तब ही हो सकती है, जब कि उसका शासन के प्रत्येक पुर्जे पर प्रत्यक्ष अधिकार रहे। वह जब देखे कि अमुक पुर्जा घिस गया है, वा यंत्र के अनुकूल नहीं है, उसमें खराबी पैदा करता है, तब ही उसे निकाल और बदल सके। परन्तु आज की दुनिया में तो सब ही बातें उलटी हैं। उलटी बातों को सीधी कहा जाता है और सीधी बातों को उल्टी कहकर कोसा जाता है। जन-सत्ता के नाम पर वर्ग सत्ताएँ स्थापित की जाती हैं और सच्ची जन-सत्ता की बातों को शेखचिल्ली की कल्पना कहा जाता है। प्रतिनिधि कहलाने वाले मालिक बन बैठते हैं और मालिक गुलाम की तरह बरते जाते हैं। रक्षक कहलाने वाले भक्षक का काम करते हैं और रक्ष्य भक्ष्य की तरह काम में लाये जाते हैं। ऐसी दशा में यदि 'रिकाल' के अधिकार को भी "विक्षिप्तों की बकवास" की श्रेणी में रक्खा जाता है, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

इसीलिये यद्यपि आम तौर पर यंत्रालयों के संचालक व्यवहार में 'रिकाल' की पद्धति पर चलते हैं और खराब पुर्जे को

एक मिनट भी यन्त्र में नहीं रखते, परन्तु शासन यन्त्र में उसी नियम का प्रयोग करने का नाम लेते ही बौखला उठते हैं। यन्त्र के लिये तो कहते हैं कि यदि उसमें खराब पुर्जा रहने दिया जाय, तो उस एक पुर्जे के कारण सारा यंत्र बिगड़ जायगा। किन्तु शासन यंत्र के लिये वे ही कहते हैं कि इसमें से ख़राब पुर्जा हटाने से शासन यंत्र बिगड़ जायगा। पुर्जा खराब हो या अच्छा वह जितनी मियाद के लिये यंत्र में लगाया गया है, उतने समय तक उसमें रक्खा ही जाना चाहिये।

कारण स्पष्ट है। यंत्र के पुर्जे के सम्बन्ध में बातें करने वाले यंत्र संचालक हैं। परन्तु शासन यंत्र के पुर्जों की हिमायत करने वाले स्वयं शासन-यंत्र के पुर्जे हैं। यदि यंत्रों के पुर्जों में भाषण शक्ति होती, तो वे भी इसी तर्क का आश्रय लेते और शायद अपने लिये बीमे और पेन्शन तथा कम्पेन्सेशन (मुआवजा) के नियम बनाने की मांग भी करते। इसीलिये वास्तव में इस तर्क-सरणी को उतना ही मूल्य दिया जाना चाहिये, जितना कि वास्तविक यंत्र के पुर्जे के तर्क को। अस्तु,

इंग्लैंड आदि देशों में, जहाँ यंत्र के पुर्जे ही यंत्र के मालिक हैं, वहाँ बड़े-बड़े पद आदि राजा वा शासन-सभा द्वारा भरे जाते हैं। परन्तु स्विटजरलेंड, अमेरिका आदि देशों में, जहाँ पूरा न सही, बहुत कुछ यंत्रों पर अधिकार उनके स्वामी-जन समूह का है, वहाँ इनके निर्वाचन की प्रथा है। प्रांयः सब जिलों में शासन-यंत्र के सब प्रमुख पुर्जे जनता द्वारा चुने और नियुक्त किये जाते हैं। क्या जिलों की शासन सभाओं के सदस्य, क्या उनके प्रेसिडेण्ट, व्यवस्थापिकाओं के सदस्य और उनके अध्यक्ष, धर्माध्यक्ष, जज, रजिस्ट्रार, अध्यापक और क्या भिन्न-भिन्न विभागों के अफ़सर एवं पंचायतों के अधिकारी, सब जनता

द्वारा चुनकर नियुक्त किये जाते हैं। इसीलिये यदि जिले की शासन सभा या मंत्रियों और व्यवस्थापिका में विरोध हो जाता है, तो मंत्री त्यागपत्र नहीं देते। क्योंकि वे सीधे जनता के प्रति उत्तरदायी हैं।

जब पहले पहल यह पद्धति चली, तो सनातनी—पुराने ढंग के—नीतिज्ञों ने इसका बड़ा विरोध किया था। कहा गया था कि "इसकी बदौलत एक दिन भी शासन यंत्र न चल सकेगा। एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। ये नित्य आपस में लड़ेंगे और शासन भ्रष्ट होगा।" परन्तु अधपढ़े ज्योतिषियों की तरह उनकी ये सब भविष्यवाणियाँ झूठी प्रमाणित हुईं। इतने वर्ष हो गये, आज तक एक बार भी इसके कारण शासन यंत्र में खराबी होने की नौबत नहीं आई। Real Democrasy in Operation P. 170. आती क्या, कभी इतना विरोध ही नहीं बढ़ा। कारण यही है कि इन पुराने नीतिज्ञों का अनुभव तो वर्गशासन का है, जिसमें दूसरे विचारों का व्यक्ति निभ ही नहीं सकता। परन्तु वहाँ न तो वर्गशासन की गुञ्जाइश है और न उसकी सन्तति बढ़ती है।

अमेरिका में इस चुनाव की पद्धति को Long Ballot System "लौंग बैलट सिस्टम" कहते हैं। परन्तु वहाँ के और स्विटज़रलैंड के चुनाव में एक गहरा भेद है। स्विटज़रलैंड में प्रत्येक जिले के लोग अपने जिले के अधिकारियों को चुनते हैं और इसलिए उनसे वे परिचित होते हैं। उनके सम्बन्ध में वे अपने विवेक से काम ले सकते हैं और केन्द्रीय सरकार के चुनाव में अपने विवेक से काम लेने के लिए उन्हें इन चुने हुए साथियों से सहायता मिल जाती है। परन्तु अमेरिका में उपरोक्त पद्धति से जो चुनाव होता

है, उसमें देश के किसी भी कोने से उम्मेदवार खड़े हो सकते हैं। इस त्रुटि से लाभ उठाकर वहाँ के पूँजीवादी राजनीति में खेल खेलते रहते हैं और प्राय: ऐसे व्यक्तियों की सूची पेश करते हैं, जिसमें दिए व्यक्तियों से मतदाता सर्वथा अपरिचित रहते हैं। उनके वारे में पूँजीवादियों द्वारा अधिकृत समाचार-पत्र जैसा प्रचार करते हैं, वैसा ही विचार बनाकर लोग उनके लिए मत देते हैं। स्वभावत: ऐसी दशा में मतदाता अपने विवेक से काम नहीं ले सकते।

SHORT BALLOT SYSTEM

इस त्रुटि को दूर करने के लिए एक और पद्धति निकाली गई है। इसे "शौर्ट बैलट सिस्टम्" कहते हैं। इसके अनुसार केवल विभागों के अध्यक्षों का चुनाव जनता से कराया जाता है, जो प्रसिद्ध और काफी क्षेत्र के अधिकारी होने के कारण काफी लोगों के परिचित होते हैं। इससे धनिकों के राजनैतिक सट्टे में कुछ कमी आ गई है।

इस चुनाव के लिये कई जगह उम्मेदवारों को यह शपथ लेनी पड़ती है कि "वह किसी राजनैतिक दल का सदस्य वा पक्षपाती तो नहीं है।

इन चुनावों में किसी भी उक्त पद के लिए आवश्यक योग्यता वाला कोई भी व्यक्ति खड़ा हो सकता है, इसलिए प्राय: प्रत्येक पद के लिए कई उम्मेदवार होते हैं और जनता जिसे सबसे अच्छा समझती है, चुन लेती है।

इस पद्धति के अनुसार प्रत्येक विभाग के मातहत अफ़सरों की नियुक्ति-अलहदगी का अधिकार इन चुने हुए अधिकारियों को

होता है। यह सावधानी इसीलिये की जाती है कि किसी विशेष दल के लोग भरती होकर शासन-यन्त्र का दुरुपयोग न करें।

इस प्रकार चुने हुए शासन के ये प्रत्येक पुर्ज़े किसी भी समय जनता द्वारा बदले या पदच्युत किये जा सकते हैं। इसे व्यावहारिक रूप देने की दो विधि हैं—

व्यावहारिक रूप—

१—ऐसे अधिकारी के प्रति, जो जनता की निश्चित नीति या इच्छा के विरुद्ध आचरण करता है, अथवा किसी एक दल के पक्ष का समर्थन करता है, जनता सभायें कर उस पर अविश्वास का प्रस्ताव पास करती है।

२—इस पर उक्त अधिकारी वा किसी कौंसिल का सदस्य त्याग-पत्र नहीं देता है तो उसे पृथक करने के लिए एक आवेदन पत्र तयार कर उस पर २५ प्रतिशत मतदाताओं के हस्ताक्षर लिये जाते हैं। सनफ्रांसिस्को में केवल १० प्रतिशत मत-दाता ही हस्ताक्षर कर ऐसा आवेदन पत्र भेज सकते हैं। ओक-लैंड में १५ प्रतिशत, डल्लास में ३५ प्रतिशत और इल्लिनोइस नगरों में ५० प्रतिशत हस्ताक्षर होने का नियम है।

इस पद्धति के द्वारा जनता केवल चुने हुए ही नहीं, मुख्या-धिकारियों द्वारा नियुक्त किये हुए अफ़सरों को भी निकाल दिये जाने की मांग कर सकती है।

उक्त आवेदन पत्र पहुँचने पर रिफ़रेण्डम की पद्धति से उस पर लोकमत लिया जाता है। 'वैलट पेपर' (मतदान पत्र) पर जनता के उसे हटाने के कारण भी छपे रहते हैं और यदि दोषी अफ़सर चाहता है, तो उसकी निर्दोपिता प्रमाणित करनेवाली दलीलें भी छपी रहती हैं।

रूस की विशेषता।

रूस ने इस पद्धति को कुछ विशेषताओं के साथ प्रचलित किया है। वहाँ के विधान के अनुसार, सोवियट रूस में चुन कर भेजे हुए अपने प्रतिनिधि को भी जनता जब चाहे वापिस बुला ले सकती है। (A. Rothstein's Soviet Constitution P. 20)

कहना व्यर्थ है कि इसका प्रयोग बहुत कम होता है। व्यवस्थापिका के सदस्यों और शासन सभा के विरुद्ध तो और भी कम होता है। केवल जनता के हाथ में इस अधिकार का होना ही अधिकारियों को ठीक पथ पर रखने के लिये काफ़ी होता है। फिर भी कोई दल व्यर्थ प्रचार कर इसका दुरुपयोग न कर सके इसलिए नीचे लिखे संरक्षण अमेरिका ने रक्खे हैं:—

१—दोषी अफ़सर को अपनी सफ़ाई देने का अवसर दिया जाता है।

२—उसे ६ मास का समय अपनी निर्दोषिता प्रमाणित करने और फिर जनता का विश्वास प्राप्त कर लेने के लिए दिया जाता है। तब तक वह अपने पद पर बना रहता है।

३—यदि रिफ़ैरेण्डम लेने पर जनता "रिकाल" के आवेदन पत्र को नामंजूर कर देती है, तो इस झगड़े में अफ़सर को जो ख़र्च करना पड़ता है, वह उसे सरकारी कोष से मिल जाता है।

४—एक वार ऐसा होने पर फिर उसके विरुद्ध पदच्युत करने का आवेदन पत्र नहीं दिया जा सकता।

(अ) नवादा और उरगौन आदि कुछ राज्यों में ऐसा नियम है कि यदि आवेदन पत्र दुवारा पेश किया जाय और उसके

साथ, पेश करने वाले, पहली बार का सरकारी ख़र्च कोष में जमा करा दें, तो वह स्वीकार कर लिया जाय।

५—कुछ राज्यों में ऐसा भी नियम है कि उक्त आवेदन पत्र के पक्ष में, कम से कम उतने मतों का बहुमत आने पर ही अधिकारी अलग किया जाय जितने कि उसे चुनने के समय उसके पक्ष में पड़े थे।

इस प्रकार अधिकारियों के लिए इतने संरक्षण हैं कि वे आसानी से हटाए ही नहीं जा सकते। इतना ही नहीं, उलटे कभी-कभी इन संरक्षणों का दुरुपयोग भी होता है और दोषी अधिकारी बचा लिया जाता है।

"रिकाल" के विरुद्ध दलीलें

हम कह चुके हैं कि इस पद्धति के विरुद्ध बहुत कुछ कहा गया है और कहा जाता है। एक मुख्य दलील यह दी जाती है कि यह अधिकारियों की स्वतंत्रता को छीनती है, उनका साहस कम करती है और उसे अपने कर्तव्य की अपेक्षा लोगों के भावों का ध्यान अधिक रखने को बाध्य करती है। और जनता में, विशेषतः चोरी से नशीले पदार्थ आदि लेने देने वाले तथा दूसरे ऐसे धन्धे करने वाले दल होते हैं। वे लोग अधिकारियों पर इस पद्धति की बदौलत रौब गांठ लेते हैं। विशेषतः इस लिए कि ऐसे-ऐसे गुट्टों में बड़े-बड़े प्रभावशाली व्यौपारी भी होते हैं। वे किसी अफ़सर को प्रचार द्वारा अप्रिय बना सकते हैं। अतः यह पद्धति ख़तरनाक है।

इसमें सन्देह नहीं कि दलील ज़ोरदार है। परन्तु क्या यह भी बात इतनी ही सत्य नहीं है कि, यदि अधिकारियों को बेलगाम

छोड़ दिया जाता है, तो वे बड़ी आसानी से उन प्रभावशाली लुटेरों के हाथ बिक जाते हैं, जिनसे उन्हें नियमित और बड़े-बड़े इनाम मिलते रहते हैं। फिर जब हम संरक्षणों पर दृष्टि डालते हैं, तब तो इन दलीलों की कोई गुञ्जाइश ही नहीं रह जाती। सिद्धान्त की दृष्टि से भी जो नियुक्त करता है, उसे निकालने का अधिकार होना ही चाहिये और खासतौर पर हमारे कारखानों और दफ़्तरों में क्या नियम होता है? नियुक्त करने वाला ही निकालने का अधिकारी होता है न? फिर जनता के लिए ही यह आपत्ति क्यों? इसके अतिरिक्त इतने वर्षों में भी इस नियम द्वारा उतने अन्याय किये जाने का कोई प्रमाण आज दे सका है क्या, जितने कि दूसरी स्थितियों में होते हैं? वास्तव में इतने कड़े संरक्षणों के मुकाबिले में जनता तब ही ऐसे अस्त्र का प्रयोग करने को उद्यत हो सकती है, जबकि उक्त अधिकारी ने बहुत ही कड़ी अनियमितता या बेईमानी की हो। और उसकी सहानुभूति उन मक्कार दलों से तो हो ही नहीं सकती, जिनका उदाहरण दिया गया है, फिर चाहे वे कैसे ही प्रभावशाली क्यों न हों? यदि यही बात हो तो उसे सब से अधिक, सबसे सम्पन्न राज्य-सत्ताओं से प्रभावित होना चाहिये। परन्तु वह सदा राज-सत्ता की विरोधी रहती है। अतः यदि ऐसा हो भी, तो अफसर के उसका भंडाफोड़ करते ही जनता की सहानुभूति उसके साथ हो जायगी।

और आज तो कई देशों में एक दल के बहुमत वाली शासन सभाएं, न्याय और शासन को अलग करती हैं। क्या जनता उनसे भी अधिक पक्षपातिनी हो सकती है। मि० गिल्बर्टसन् (American City Govt. P. 74) ने तो अनुभवों और इतिहास द्वारा यह सिद्ध किया है कि इस पद्धति से शासन की

सर्वाङ्गपूर्णता बढ़ी है। और प्रेसिडेण्ट विल्सन तो इस पर इतने मुग्ध थे कि उन्होंने इसे कठिनाई के समय काम आने वाली (The Gun Behind the Door) "दरवाज़े के पीछे रक्खी हुई बन्दूक़" बताया है। (Commission Government and the City.Manager Plan P. 168)

न्यायाधीशों का पुनरावर्तन

राज्याधिकारियों और प्रतिनिधियों के पुनरावर्तन का वर्णन हम ऊपर दे चुके हैं। परन्तु उन्नत देशों में भी न्यायाधीश और शिक्षक भी चुने जाते हैं। वास्तव में शासन और क़ानूनों के समान ही इन दोनों विभागों का सम्बन्ध जनता के हिताहित से बहुत गहरा है।

यदि न्याय विभाग शुद्ध न हो तो लफंगों और धनिकों की बन आती है। समाज में अनाचार फैल जाता है। न्यायाधीशों को पक्षपात करने में डर नहीं रहता। वे न्याय को अपना घर भरने का साधन बना लेते हैं

यही स्थिति शिक्षा की है। शिक्षक को जनता और बच्चों के माता पिताओं का कोई भय नहीं रहता। वे अपने ऊपर के अफ़सरों को खुश रखकर चाहे जो करते रहें, कोई पूछने वाला नहीं। वे चाहें अपने छात्रों को दुश्चरित्र बनावें चाहे, उनमें कोई कुसंस्कार पैदा करें, माता-पिता कुछ नहीं कर सकते।

इसी लिये स्विटज़रलैंड, अमेरिका, रूस आदि में इन्हें चुनने की पद्धति है। और पद्धतियों की तरह इसका भी शुरू में काफी विरोध हुआ था। कहा गया था कि न्यायाधीशों को तो सर्वथा स्वतंत्र रक्खा जाना चाहिये, अन्यथा उनकी वही स्थिति होगी, जो राजाओं के आधीन रहने वाले न्यायाधीशों की होती

है। वे शुद्ध न्याय न कर सकेंगे। लोकमत को देखकर न्याय करेंगे। आदि आदि—

परन्तु व्यावहारिक अनुभव ने साबित कर दिया कि लोगों की ये शंकाएँ निर्मूल थीं। जनता एक व्यक्ति की तरह छोटी-छोटी बातों में और अनुचित रूप से कभी किसी की आज़ादी में हाथ नहीं डालती। (See–Beards' American City Government P. 74)

"निर्णय"–प्रत्यावर्तन

फिर रही सही आशंकाओं को दूर करने के लिये एक और विधि निकाल ली गई है। इसे The Recall of Decisions कहते हैं। इसके अनुसार जनता न्यायाधीश को नहीं हटाती, किन्तु उसके जिस फ़ैसले को ग़लत समझती है, उसे रद्द कर देती हैं।

परंन्तु आश्चर्य है कि यह सुधार भी बिना विरोध के स्वीकृत नहीं हुआ। इसे लोगों ने पुनरावर्तन से भी बुरा बताया और साथ ही दिल्लगी यह कि व्यवहार में आने पर इसके विरुद्ध दी गई दलीलें भी वैसी ही झूठी साबित हुईं।

इस सम्बन्ध में मि० एच० एस० गिल्बर्टसन लिखते हैं—"क्या यह नागरिक जीवन की उन्नति के लिये बाधक है?—हमारे यहाँ इस प्रथा ने जो लाभ पहुँचाए हैं और हमारे शासन और न्याय को उन्नत बनाने में इसने जितनी मदद की है, उसे देखते इस प्रश्नका उत्तर 'नहीं' के सिवाय कुछ नहीं हो सकता।"

चुनाव-नियमावली

आवश्यकता
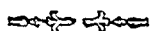
आजकल हमारे देश में चुनावों का महत्व बहुत बढ़ गया है। ब्रिटिश भारत में ही प्रायः ४ करोड़ व्यक्तियों को मताधिकार मिला है। अब ज़िला बोर्डों एवं म्यूनिसिपैलिटियों के विधानों में जो परिवर्तन हो रहे हैं, उनसे मतदाताओं की संख्या और भी बढ़ जाने वाली है। देशी राज्यों में भी प्रतिनिधि संस्थाओं के लिए आन्दोलन चल रहे हैं। अनेक राज्यों में स्थानीय शासन संस्थाएं प्रतिनिध्यात्मक हैं भी।

इनके अलावा सार्वजनिक प्रतिनिधि संस्थाएं देश के हर भाग में मौजूद हैं, और जहाँ नहीं थीं, वहाँ अब बन रही हैं। इधर जब से कांग्रेस के हाथों में शासन सूत्र आए हैं, तब से चुनावों में दिलचस्पी लेने वालों की संख्या दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ रही है। देहात के किसान, शहरों के मज़दूर और मध्यम वर्गीय युवक बहुत बड़ी संख्या में चुनावों में भाग लेने लगे हैं। इस स्थिति को देखकर जो लोग अब तक सार्वजनिक और सरकारी संस्थाओं के ठेकेदार बने हुए थे, उनके आसन डगमगा उठे हैं। वे इस प्रवृत्ति का भिन्न-भिन्न उपायों से विरोध करते हैं, उसे बुरी बताते हैं और भिन्न-भिन्न हथकण्डों से नए आने वाले, मुख्यतः ग़रीब उम्मेदवारों को असफल कर हतोत्साह करते हैं।

वास्तव में बुरा है क्या ?

इसमें शक नहीं कि इस प्रवाह से बहुत से ऐसे लोग भी लाभ उठाने की कोशिश कर रहे हैं, जिनका आगे आना वाञ्छनीय नहीं है। लेकिन साथ ही ऐसे लोग प्रायः इतने साधन-सम्पन्न और योग्य होते हैं कि वे अच्छे खिलाड़ियों के मुकाबिले में भी, और कई बार खिलाड़ियों को ख़रीद कर सफल हो ही जाते हैं। अतः इस विरोध की अधिकतर मार पड़ती है, उनही लोगों पर, जिन पर नहीं पड़नी चाहिये।

परन्तु क्या यह प्रवाह वास्तव में बुरा है ? हमारे ख़याल से तो यह धारणा ग़लत है। जिनके स्वार्थ को धक्का पहुँचता है, वे तो इसे बुरा कहेंगे ही, परन्तु तात्विक दृष्टि से हमें इसमें कोई बुराई नहीं दिखाई देती। सच तो यह कि चुनाव पद्धति और चुनाव लड़ना आधुनिक राजनीति का सब से पहला और ज़रूरी पाठ है। और देशों में तो जनसाधारण की चुनावों में रुचि पैदा करने के लिए सिर तोड़ प्रयत्न किए जाते हैं। क्यों ? इस लिये कि जब तक चुनावों में रुचि न ले, तब तक वह अपने मत का महत्व एवं उससे शासन के सम्बन्ध को समझ ही नहीं सकती। इस दृष्टि से हमारे लिये तो यह अपने यहाँ की जनता को जनतंत्र की शिक्षा देने का स्वयं प्राप्त अवसर है।

इसमें शक नहीं कि पहले पहल अखाड़े में उतरने वालों की तरह हमारे नये मतदाता ग़ल्तियाँ करेंगे। पटकें खायँगे। बार-बार हारेंगे। इससे कुछ नुकसान भी होगा। कुछ ग़लत आदमी भी चुन जायँगे। परन्तु यह जोखम किस नये परिवर्तन में नहीं होती ? हाँ, वह क्षणस्थायी होती है। परन्तु आगे चलकर उससे

जो अमित लाभ होंगे उनके मुक़ाबिले में यह हानि और अव्यवस्था कितनी नगण्य होगी ?

और आखिर ये ग़ल्तियाँ भी क्यों होती हैं ? इसीलिए न, कि हमने जनता को चुनाव सम्बन्धी राजनैतिक ज्ञान नहीं कराया है। वे न चुनाव के नियमों से परिचित होते हैं न उम्मेदवारों के हथकण्डों से। अतः अब भी यदि हम अपने इस कर्तव्य का पालन करें, तो यह गड़बड़ी और भी जल्दी दूर हो जायगी। अस्तु,

इसी दृष्टि से हम यहाँ अपने देश में प्रचलित चुनाव पद्धतियों सम्बन्धी ख़ास-ख़ास नियम और सूचनाएँ दे रहे हैं।

निर्वाचन और निर्वाचक

निर्वाचन के आम तौर पर दो भेद हैं:—

प्रत्यक्ष।

परोक्ष।

प्रत्यक्ष—प्रत्यक्ष निर्वाचन उसे कहते हैं, जिसमें प्रत्येक उम्मेदवार को साधारण मतदाता चुनते हैं।

साधारण मतदाता—विधान के अनुसार कई प्रकार के होते हैं:—

(१) जहाँ प्रत्येक बालिग़ व्यक्ति को मताधिकार होता है, वहाँ प्रत्येक बालिग़ व्यक्ति साधारण मतदाता है।

(२) संस्थाओं में नियमित चन्दा देकर बनने वाले प्राथमिक सदस्य साधारण मतदाता होते हैं।

(३) म्युनिसिपैलिटी, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड आदि में मतदाताओं की योग्यताएँ निश्चित होती हैं:—

(अ) जैसे इतने समय से उक्त संस्था की हद में रहने वाला।

(ब) इतना किराया—रहने के मकान का—इतने समय से देने या लेने वाला।

(स) इतने लगान की ज़मीन जोतने वाला।

(द) इतनी स्थावर सम्पत्ति वाला।

(ए) इतनी शिक्षा पाया हुआ।

(फ) इतना वेतन पाने वाला। आदि-आदि

ऐसी जगहों में उपरोक्त योग्यता वाले व्यक्ति ही साधारण मतदाता होते हैं।

परोक्ष निर्वाचन

परोक्ष निर्वाचन—उसे कहते हैं जिसमें प्रत्येक प्रतिनिधि को साधारण मतदाता नहीं चुनते। साधारण मतदाता स्थानीय संस्थाओं के सदस्यों को चुनते हैं और ये संस्थाएँ उनकी ओर से बड़ी संस्थाओं के लिए प्रतिनिधि चुनती हैं।

उदाहरण के लिए पहले कांग्रेस की प्रत्येक संस्था के लिए प्रतिनिधि प्राथमिक (प्रति वर्ष चन्दा देकर बनने वाले) सदस्यों द्वारा ही चुने जाते थे। परन्तु अब अप्रत्यक्ष चुनाव की पद्धति जारी की गई है। इसके अनुसार प्राथमिक सदस्य सिर्फ अपनी-अपनी वार्ड या मण्डल-कमेटियों के लिए प्रतिनिधि चुनते हैं।

ये चुने हुए प्रतिनिधि फिर शहर और ज़िले के लिए प्रतिनिधि चुनते हैं।

इसी तरह नये संघ विधान के अनुसार म्युनिसिपैलिटी, जिला बोर्ड और प्रान्तिक व असेम्बलियों के प्रतिनिधियों को तो साधारण मतदाता चुनते हैं, परन्तु केन्द्रीय असेम्बली के प्रतिनिधि अब साधारण मतदाताओं द्वारा न चुने जाकर, उनकी ओर से म्युनिसिपैलिटियों, जिला बोर्डों और प्रांतिक असेम्बलियों आदि द्वारा चुने जायँगे।

यही परोक्ष निर्वाचन पद्धति है।

निर्वाचक संघ

चुनाव की सुविधा और प्रत्येक समूह व भू-भाग का ठीक ठीक प्रतिनिधित्व होने की दृष्टि से, साधारण मतदाताओं के जो विभाग स्थिर किये जाते हैं, उन्हें निर्वाचक संघ कहते हैं। इसके कई प्रकार हैं। जैसे—

(१) धार्मिक निर्वाचक संघ।
(२) जातीय निर्वाचक संघ।
(३) व्यवसायिक निर्वाचक संघ।
(४) सम्मिलित निर्वाचक संघ।

(१)

धार्मिक निर्वाचक संघ

यह निर्वाचक संघ किसी विशेष धर्म के अनुयायियों के प्रतिनिधित्व के लिये बनाया जाता है। इसके अनुसार किसी

चुनाव क्षेत्र में जितने मतदाता उस धर्म के अनुयायी होते हैं, वे ही उक्त संघ के प्रतिनिधि के चुनाव में मत देते हैं। जैसे ईसाई निर्वाचक संघ, मुस्लिम निर्वाचक संघ, आदि। ऐसे संघ प्रायः उन धर्मों के अनुयायियों के बनाये जाते हैं, जिन की संख्या उक्त क्षेत्र में कम होती है।

(२)

जातीय निर्वाचक संघ

इन निर्वाचक संघों का आधार धर्म न होकर जाति विशेष होती है। जो जाति, और मतदाताओं से कम संख्या में होती है, उसे भय रहता है कि बहुमत न होने के कारण शायद उसका एक भी प्रतिनिधि न चुना जा सके। इसी लिये उक्त जाति का एक पृथक संघ बना दिया जाता है। किसी चुनाव-क्षेत्र में उस जाति या जाति-समूह के जितने मतदाता रहते हैं, वे ही उस में मत दे सकते हैं। जैसे हरिजन, ऐंग्लोइण्डियन, यहूदी, पारसी आदि।

(३)

व्यावसायिक निर्वाचक संघ

इन निर्वाचक संघों का आधार, जाति या धर्म न होकर, पेशा होता है। उदाहरण के लिये सब्जी और फलों का धन्धा करने वाले, कारखानों के मजदूर, छोटे दुकानदार, किसान, छोटे जमीदार, बड़े जमीदार, रुई के कारखानों के मालिक आदि समान धन्धा करने वाले। उपरोक्त संघों की तरह अमुक अमुक धन्धा करने वालों के अलग अलग संघ होते हैं और

उनके प्रतिनिधियों के चुनाव में उक्त धन्धा करने वाले साधारण मतदाता ही मत दे सकते हैं।

सम्मिलित निर्वाचकसंघ

——❀(✕)❀——

इस में जाति या धर्म का भेद नहीं होता। इसका रूप आमतौर पर साधारण निर्वाचकसंघ का होता है। चुनाव क्षेत्र के सब मतदाता मिल कर निश्चित संख्यानुसार प्रतिनिधि चुनते हैं।

नोट—जिस क्षेत्र का ग्राम्य या नगर, हिन्दू या मुस्लिम निर्वाचक संघ होता है, वहां के निर्वाचक संघ के साथ उसका नाम जोड़ दिया जाता है। जैसे:—"आगरा शहर मुस्लिम निर्वाचक संघ" या "सादाबाद देहाती ग़ैरमुस्लिम निर्वाचक संघ।"

संरक्षित स्थान

चुनाव में एक विशेष पद्धति 'संरक्षित स्थानों' की भी है। इस आधार पर कि अभी साधारण मतदाताओं में सब के हिताहित का समान आदर करने की बुद्धि नहीं है, या कहीं बहुमत में ऐसे स्वार्थी दल का प्रधानत्व हो जाने पर, जो अल्पमत के साथ उदार व्यवहार नहीं करता, इस पद्धति की मांग की जाती है। इसके तीन भेद मुख्य होते हैं:—

(१) मतदाता तो मिश्रित होते हैं, परन्तु ऐसे धर्म या जाति के लोगों के लिए स्थान निश्चित कर दिये जाते हैं।

मतदाताओं को उन्हीं धर्म या जाति के लोगों में से उतने उम्मेदवार चुनने पड़ते हैं।

(२) संरक्षित जाति या धर्म के लोगों का अलग निर्वाचक संघ बना दिया जाता है।

(३) प्रथक निर्वाचक संघ बनाने के साथ-साथ स्थान भी निश्चित कर दिये जाते हैं। यह प्राय: अत्यल्प मत वालों के लिए ही होता है। उदाहरण के लिए एक निर्वाचन-क्षेत्र में २००० मतदाता हों और वहाँ से ५ प्रतिनिधि चुने जाते हों, परन्तु वहाँ पारसी मतदाता १०० ही हों। ऐसी दशा में ज़रूरी समझकर यह नियम कर दिया जाय कि वे १०० ही एक प्रतिनिधि चुन सकते हैं। अथवा यह कि ५ में से १ प्रतिनिधि पारसी होगा।

वर्तमान निर्वाचक सङ्घ

इस समय भारत में सन् १९३५ के "सुधार विधान" के अनुसार नीचे लिखे "निर्वाचक संघ" है:—

१—साधारण निर्वाचक संघ
२—सिक्ख ,, ,,
३—मुस्लिम ,, ,,
४—ऐंग्लोइंडियन ,, ,,
५—योरोपियन ,, ,,
६—भारतीय ईसाई ,, ,,
७—व्यापारी उद्योग और खनिज निर्वाचक संघ
८—जमींदार निर्वाचक संघ
९—विश्व विद्यालय ,, ,,
१०—श्रम (मज़दूर) ,, ,,

११—साधारण स्त्री ,, ,,
१२—स्त्री सिक्ख ,, ,,
१३—ऐंग्लोइंडियन स्त्री ,, ,,
१४—मुस्लिम स्त्री ,, ,,
१५—भारतीय ईसाई स्त्री ,,

ध्यान रहे कि भारतीय ईसाइयों और स्त्रियों ने देश में कभी पृथक मताधिकार नहीं मांगा था। फिर भी वह उनके गले मढ़ दिया गया। क्योंकि किसी भी देश को पराधीन रखने के लिए इस विष का इञ्जेक्शन उसके लिए जरूरी होता है।

चुनाव-नियमावली

मतदाताओं की फहरिस्त—

हर एक निर्वाचन क्षेत्र के मतदाताओं की सूची काफी दिनों पहले एक निश्चित स्थान पर टांग दी जाती है और उसकी सूचना प्रकाशित कर दी जाती है। यह सूची खास अफ़सरों द्वारा तैयार कराई जाती है। परन्तु आज कल के युग में किसी पर निर्भर रहना ग़लती है। अफ़सरों से भी क़ाफी गल्तियां होती हैं। साथ ही, जिस दल का, जिस संस्था या बोर्ड में प्राधान्य होता है, वह भी कभी २ अपने हित की दृष्टि से इन कामों में चालबाज़ी से काम लेता है। बहुधा विरोधी पक्षों के मतदाताओं के नाम नहीं दर्ज किये जाते या ग़लत छाप दिये जाते हैं, जिस से न वे उम्मेदवार बनने योग्य रह जाते हैं, न मत देने योग्य। इसी तरह बहुत से ऐसे लोगों के नाम दर्ज हो जाते हैं जो वास्तव में मतदाता की योग्यता नहीं रखते। हमारे देश में ही

कई बार माननीय मदनमोहन मालवीय और पं० प्यारेलाल शर्मा जैसे प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम तक सूची में दर्ज होने से रह गए। शर्मा जी तो इसी कारण केन्द्रीय असेम्बली का एक चुनाव ही न लड़ सके।

हमारे यहाँ, क्या म्यूनिसिपैल्टियों के मतदाता, क्या डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के और क्या प्रांतिक एवं केन्द्रीय असेम्बलियों के, इस बारे में अपने कर्तव्य की बहुत उपेक्षा करते हैं। अतः उन्हें सतर्कता से ऐसी फहरिस्तों की जाँच करनी चाहिए और उनमें जो गलतियाँ हों वे दुरुस्त करानी चाहिएं।

संशोधित निर्वाचक सूची—

इस प्रकार मिली सूचनाओं के आधार पर उक्त सूची का संशोधन किया जाता है और फिर वह संशोधित रूप में प्रकाशित की जाती है। इस सूची में जिनके नाम दर्ज होते हैं, वे ही उम्मेदवार होने या मत देने के अधिकारी होते हैं।

नामज़दगी का परचा—

संशोधित मतदाताओं की सूची के साथ नाजदगी के परचे का एक नमूना (भरा हुआ) टांगा जाता है और उसके साथ वे हिदायतें भी टंगी रहती हैं, जिनके माफ़िक परचा भरा जाना चाहिए।

कुछ याद रखने योग्य बातें—

१—**म्युनिसिपल चुनावों में**—जिस निर्वाचन क्षेत्र या वार्ड से जो मतदाता होता है, वही वहाँ से उम्मेदवार हो सकता है। वहीं उसे मत देना पड़ता है। दूसरे वार्ड में

उसका नाम नहीं होना चाहिए। साथ ही जिस वार्ड का जो वोटर है वह उसी वार्ड या मंडल वा हल्के से खड़े होने वाले उम्मेदवार को मत दे सकता है।

२—**जिला बोर्डों**—के चुनाव में एक आदमी ही जिले में दो जगह मतदाता नहीं हो सकता, भले ही सम्पत्ति आदि कारणों से वह दो या अधिक जगह से मतदाता होने योग्य हो।

नामज़दगी—

संशोधित सूची टंग जाने के कुछ समय बाद नामज़दगी की तारीख मुक़र्रर होती है। उस तारीख तक कोई भी मतदाता किसी उम्मेदवार का प्रस्ताव भरकर पेश कर सकता है। इस पर एक मतदाता का समर्थन होना चाहिए। उम्मेदवार की स्वीकृति भी होनी चाहिए।

—— इस नामज़दगी के 'फार्म' को सावधानी से भरना चाहिए। ध्यान रखना चाहिए कि प्रस्तावक व समर्थक उसी चुनाव क्षेत्र के मतदाता हों, जिससे उम्मेदवार खड़ा हो रहा है। साथ ही नाम व उनके हिज्जे भी वही हों, जो मतदाताओं की सूची में हों। उनमें न कुछ घटाया जाय न वढ़ाया जाय।

——प्रत्येक उम्मेदवार को कमसे कम दो-तीन नामज़दगी के फार्म भरने चाहियें, ताकि किसी वजह से एक खारिज हो जाय तो दूसरा सही होने पर काम आ जाय।

——उम्मेदवारों से ज़मानत भी जमा कराई जाती है। यह नक़द होती है और एक नियत तादाद में 'मत' न मिलें, तो ज़ब्त करली जाती है। अतः नामज़दगी के साथ ही वह भी जमा करा देनी चाहिए। वरना प्रस्ताव-पत्र पर विचार ही नहीं किया जायगा।

——नामज़दगी का फ़ार्म व रुपे जिस अधिकारी को दिये जांय, उससे उनकी रसीद उसी वक्त ले लेनी चाहिए।

——ध्यान रहे कि एक मतदाता, एक चुनाव क्षेत्र से उतने ही उम्मेदवारों का प्रस्तावक या समर्थक बन सकता है, जितने उम्मेदवार उस क्षेत्र से चुने जाने वाले हों। यदि प्रस्तावक या समर्थक ख़ुद भी उम्मेदवार हों, तो उस संख्या से एक कम तक के प्रस्तावक व समर्थक बन सकते हैं। उदाहरण के लिये यदि एक निर्वाचन क्षेत्र से ५ आदमी चुने जाने हैं, तो उस क्षेत्र का प्रत्येक मतदाता ५ उम्मेदवारों का प्रस्तावक या समर्थक बन सकता है। परन्तु यदि वह ख़ुद भी उम्मेदवार है, तो वह दूसरे चार उम्मेदवारों का ही प्रस्तावक या समर्थक बन सकता है। इससे अधिक का प्रस्तावक या समर्थक बनने पर वे परचे ख़ारिज हो जायंगे, जिनका नियत संख्या से ऊपर उसने प्रस्ताव या समर्थन किया है।

नामजदगी की जाँच—

नामजदगी के बाद प्रस्ताव पत्रों की जाँच करने की तारीख मुकर्रर की जाती है। इस तारीख तक कोई भी उम्मेदवार अपना नाम वापिस ले सकता है। नाम वापिस ले लेने वाले उम्मेदवार की जमानत लौटा दी जाती है।

—जाँच के दिन प्रत्येक उम्मेदवार को ज़रूर पहुँचना चाहिए और प्रतिपक्षी उम्मेदवारों के परचों की ग़लतियाँ और अनियमितताएं देखनी चाहिएं। आम तौर पर नीचे लिखी बातों पर उज्र किया जा सकता है:—

(१) उम्मेदवार, प्रस्तावक और समर्थक के नाम ग़लत या लिस्ट के अनुसार न होने पर एवं नामों के हिज्जे में फरक़ होने पर।

(२) उम्मेदवार, प्रस्तावक और समर्थक की वल्दियत (पिता का नाम) जाति या पता ग़लत होने पर।

(३) उम्मेदवार, प्रस्तावक और समर्थक—इनमें से किसी के दूसरे निर्वाचन क्षेत्र का मतदाता होने पर।

(४) प्रस्तावक, समर्थक या उम्मेदवार के हस्ताक्षर नकली या जाली होने पर।

(५) उम्मेदवार, या प्रस्तावक या समर्थक की आयु ग़लत होने पर।

(६) उम्मेदवार, प्रस्तावक या समर्थक के, जांच शुरू होने के पहले, अपना प्रस्ताव या समर्थन वापिस ले लेने पर।

(७) ग़लत तरीके से परचा भरा होने पर।

(८) परचे के साथ जमानत की रसीद न होने पर।

(९) परचा निश्चित समय और निश्चित तारीख के बाद दाख़िल किया जाने पर।

(१०) मतदाता या उम्मेदवार होने के लिए निश्चित योग्यताओं में से कोई न होने पर।

(११) उम्मेदवार, प्रस्तावक या समर्थक के नाबालिग़, पागल या किसी ऐसे अपराध में सज़ा पाया हुआ होने पर, जिनके अपराधी मताधिकार से वंचित हों।

इन में से कोई भी एक बात साबित होने पर नामज़दगी ख़ारिज हो जाती है। ऐसी तरह की आपत्तियां विपत्ती उम्मेद्‌वार कर सकते हैं, उनका उत्तर देने को तयार रहना चाहिये।

——प्रत्येक आपत्ति लिख कर देना चाहिये और उसकी रसीद, जहां तक हो उसकी नक़ल पर, जांच कुनिन्दा आफ़िसर से ले लेना चाहिए, ताकि ऑफ़िसर किसी जायज़ बात को न माने तो उस की अपील या शिकायत के वक्त ये चीज़ें काम आवें।

इस प्रकार जांच होने के बाद जिन उम्मेदवारों के परचे सही ठहरते हैं, वे उम्मेदवार घोषित कर दिये जाते हैं, अर्थात् उनके नाम छपा कर जनता में प्रकाशित कर दिये जाते हैं।

निर्विरोध चुनाव

यदि किसी चुनाव क्षेत्र से उतने ही या उससे कम उम्मेद्-वारों की नाम ज़दगी मंजूर हो, जितने कि उससे चुने जाने चाहिएं, तो स्वीकृत नामज़दगी वाले उम्मेदवार निर्विरोध चुने हुए माने जांयगे। जाँच करने वाला अफ़सर उन्हें वहीं चुने हुए घोषित कर देगा। न करे तो सम्बन्धित उम्मेदवारों को तत्काल लिख कर उससे ऐसा घोषित करने की प्रार्थना करनी चाहिये और इस प्रार्थना की रसीद ले लेनी चाहिये। ऐसी दशा में 'मत' डलवाने की नौबत नहीं आती।

वापिसी

——परचों की जांच हो जाने के बाद "रिटर्निन्ग आफ़िसर" एक तारीख़ (चुनाव के पहले की) निश्चित कर घोषित करता है कि जो उम्मेदवार अपने नाम वापिस लेना चाहें, वे अमुक तारीख़ तक ले सकते हैं।

जिन्हें अपने नाम वापिस लेने हों, उक्त तारीख़ तक ही ले लेने चाहिये, ताकि उनके नाम ' बैलट-पेपर-मतदाता पत्र' पर न छापे जावें। ऐसे उम्मेदवारों को ज़मानत का रुपया वापिस मिल जाता है।

विशेष स्थिति में

विशेष स्थिति में, या इच्छा होने पर कोई उम्मेदवार, चुनाव के दिन, मत लेना ख़तम होने के पहले किसी भी समय अपनी उम्मेदवारी वापिस ले सकता है, ऐसा भी कहीं २ नियम होता है।

चुनाव

—**—

यदि ऐसा न होकर उम्मेदवार अधिक होते हैं, तब निश्चित तारीख़ को चुनाव होता है। अतः चुनाव के लिये प्रत्येक उम्मेदवार को अपने एजेंट हर पोलिंग स्टेशन के लिये निश्चित करने चाहियें। एजेंट ऐसे होने चाहियें, जो चुनाव विधान के जानकार, चतुर और जहां तक हो, मतदाताओं में से प्रमुख लोगों से परिचित हों।

साथ ही चुनाव सम्बन्धी अनियमितताओं पर पूरा ध्यान रखना चाहिये। आमतौर पर वे अनियमितताएें इस प्रकार होती हैं:--

अनियमित खर्च कराना--

(१) वोट या मत पाने के लिए, दूसरे उम्मेदवार को मत न देने के लिए या मत डालने को न जाने देने के लिये किसी या किन्हीं मतदाओं को कुछ रिशवत देना या इसी उद्देश्य से दावत देना, भोजनादि कराना।

(२) ऐसी जगह मांग कर या किराये पर लेकर वहां मतदाताओं को ठहराना या बुलाना, जहां नशीले पदार्थ मिलते हों।

(३) प्रतिद्वन्दी उम्मेदवार को अपना नाम वापिस लेने-बैठ जाने के लिए रिश्वत देना या दबाव डालना, धमकी देना, इनाम देना या किसी तरह का वादा करना।

(४) दूसरों से अनुचित प्रभाव डलवाना या लालच देना।

(५) कल्पित नामों से चुनाव के सम्बन्ध में कोई काम करना।

(६) ऐसे झूठी दरख्वास्तें दिलाना, दावे कराना, झूठे बयान प्रकाशित करना या कराना, जिनसे किसी उम्मेदवार को हानि पहुँचे।

(७) चुनाव के ख़र्च का हिसाब झूठा या जाली देना या न देना।

(८) निर्वाचक यानी मतदाताओं को सवारी ख़र्च देना।

(९) किराए की सवारियों को भाड़े पर लेना और उनमें मतदातओं को लाना, या भाड़ा देने का वादा करना।

(१०) बिना प्रेस के व प्रकाशक के नाम के परचे निकालना।

(११) अपने क़र्जदारों, किसानों या किराएदारों या नौकरों से क़र्जमाफ़ करने, ब्याज कम करने, लगान या किराया छोड़ने या कम करने अथवा वेतन बढ़ाने का वादा इस शर्त पर करना कि वे उसे या अमुक को मत दें।

(१२) मतदाताओं के लिये पैट्रोल ख़र्च वग़ैरा उम्मेदवार या उसके एजेंट करें और मोटर, गाड़ी आदि किसी मित्र की मांग लें।

(१३) छपाई का पेशा न करने वालों या अपने रिश्तेदारों वा घनिष्ट मित्रों से छपाई आदि का काम लेना। (यह यद्यपि

स्वतः अपराध नहीं है, परन्तु ऐसी स्थितियों का हिसाब प्रायः संदिग्ध मान लिया जाता है।)

अफसरों की अनियमितताएँ

१—चुनाव अफ़सरों के किसी काम को घोषित-समय से पहले या पीछे करने पर।

२—किसी उम्मेदवार से कोई भेंट आदि स्वीकार करने के साथ उसके सम्बन्ध में किसी अनियमितता की उपेक्षा करने पर।

३—एक ही आधार पर दो तरह के फ़ैसले देने पर।

४—किसी उम्मेदवार या दल के पक्ष या विपक्ष में अपना मत प्रकट करने या दूसरों को अपना मत किसी को देने या न देने के लिये प्रेरित करने पर।

५—किसी उम्मेदवार या मतदाता को नियमित सुविधाएँ न देने पर।

६—ग़लत निशान लगाने या ग़लत हिदायतें देने पर।

७—ऐसी सूचनाएँ प्रकाशित करने पर, जिन से किसी उम्मेदवार के हितों को हानि पहुँचे।

नोट—यदि चुनाव अफ़सर जान बूझ कर किसी व्यक्ति या दल का पक्षपात करने वाला सिद्ध हो जाय, तो उसके तहत में हुआ सारा चुनाव रद्द हो जा सकता है।

जायज़ ख़र्च

उम्मेदवारों के जायज़ ख़र्च इस प्रकार माने जाते हैं:—

(१) उम्मेदवारों, उसके एजेंटों, सब एजेंटों, क्लर्कों और अन्य

कर्मचारियों का सफ़र ख़र्च, वेतन और खान-पान आदि का ख़र्च।

(२) चुनाव के सम्बन्ध में अवैतनिक कार्यकर्ताओं व मित्रों का ख़र्च।

(३) छपाई, विज्ञापन, डाक, तार, स्टेशनरी, दफ्तर खोलने या सभा आदि करने के लिए किराये पर लिए गए मकान का किराया आदि का ख़र्च।

हिसाब की नियमितता

प्रत्येक उम्मीदवार को चुनाव के बाद, निश्चित मियाद के अन्दर अपना हिसाब चुनाव अफ़सर के पास भेज देना पड़ता है। चुनाव अफ़सर हिसाब मिलने पर उसकी सूचना सम्बन्धित लोगों को दे देता है। हिसाब पहुँचने के बाद एक निश्चित मियाद के अन्दर कोई उम्मीदवार चाहे तो अपने विपक्षी के हिसाब की अनियमितताएँ लिखित दरख्वास्त द्वारा भेज कर गवर्नर से उसका चुनाव रद्द किये जाने की प्रार्थना कर सकता है।

इसलिए चुनाव का हिसाब बिल्कुल बाक़ायदा, प्रत्येक ख़र्च से सम्बन्धित व्यक्तियों व काम के ब्यौरे तथा प्रत्येक रक़म की रसीदों के साथ रखना चाहिये।

ध्यान रहे कि एजेंटों, सब-एजेंटों के द्वारा किये गए कामों का भी जिम्मेदार उम्मीदवार ही माना जाता है।

किसी उम्मीदवार के विरुद्ध ऐसी दरख्वास्त पेश करने वाले को भी कुछ रक़म ज़मानत के तौर पर जमा करानी पड़ती है।

दरख्वास्त में जिन अनियमितताओं या चुनाव अपराधों के आधार पर किसी का चुनाव रद्द कराना हो, वे सब ब्यौरे-वार लिखी जानी चाहिएं। यदि अपराध करने या कराने वाला व्यक्ति मतदाता है, तो उसका 'रोलनम्बर' दिया जाना चाहिये। कौनसा अपराध किस तारीख को किस जगह हुआ, यह भी उसमें बताना चाहिये।

चुनाव-केन्द्र (पोलिंग स्टेशन) के कुछ नियम

(१) चुनाव के केन्द्र अर्थात् मतदाता या वोट डालने के लिये जो जगह निश्चित की जाती है, वह ऐसी जगह होनी चाहिये, जहां से प्राय: सब मतदाताओं को समान सी ही दूरी पड़े। अर्थात् निर्वाचन क्षेत्र के मध्य में हो।

(२) साथ ही वह स्थान सार्वजनिक हो। कम से कम किसी उम्मीदवार का या उसके प्रभावशाली मित्र, रिश्तेदार आदि का न हो।

(३) चुनाव स्थान के भीतर सिवाय मतदाताओं और एजेंटों या उम्मीदवारों के और कोई न आवे, ऐसी व्यवस्था हो।

(४) चुनाव स्थान के भीतर कोई कन्वैसिंग-मतदाताओं को उम्मीदवार-विशेष को मत देने या न देने को कहना, समझाना आदि वर्जित है।

(५) मत डालने का "बैलट बक्स" एकांत में, अलहदा ऐसी जगह हो, जहां कोई यह न देख सके कि मतदाता किसे मत दे रहे हैं।

(६) "बैलट बक्स" का निरीक्षक बैलट बक्स से इतनी दूर बैठे कि वह भी, मतदाता ने किस नाम के आगे निशान लगाया है, यह न देख सके।

(७) निरीक्षक सर्वथा निर्पेक्ष व्यक्ति हो।

(८) परिचय-पत्र (Identification slips) बनाने वाले व्यक्ति या तो निर्पेक्ष हों या प्रत्येक उम्मीदवार के अलग २ समान संख्या में।

(९) जिस चुनाव क्षेत्र पर जितने पोलिंग अफ़सर व प्रेसाइडिंग अफ़सर हों, वहां प्रत्येक उम्मीदवार अपने उतने ही एजेंट रख सकता है, अधिक नहीं। हां, ये बीच में बदले जा सकते हैं।

(१०) एजेंटों को मतदाताओं की तसदीक़ करते समय काफ़ी सतर्क रहना चाहिये। 'मतदाता' वास्तव में वही व्यक्ति है, जिसके नाम का कार्ड है, यह अपनी जानकारी या अपने विश्वस्त आदमियों की जानकारी के आधार पर निश्चय करके तसदीक़ करनी चाहिये। वरना यदि किसी एजेंट ने ऐसे ज्यादा आदमियों की तसदीक़ कर दी, जो असली मत-दाता नहीं थे, तो यह चुनाव-अपराध बन जायगा।

(११) परिचय-पत्र में नीचे लिखी बातें छपी होना ज़रूरी हैं:—

[अ] चुनाव-क्षेत्र का नाम

[ब] मतदाता का नाम

[स] पिता का नाम

[द] जाति व आयु

[ए] मतदाता का रोल नंबर व हस्ताक्षर या अंगूठे की निशानी।

[ग] पोलिंग अफ़सर के हस्ताक्षर।

[फ़] तसदीक़ करने वाले के हस्ताक्षर।

(१२) वैलट पेपर अर्थात् मतदाता-पत्र इस प्रकार का होगाः—

क्रम संख्या मतदाता का नम्बर	क्रम संख्या
उम्मेदवारों के नाम	मत का चिन्ह

उम्मेदवारों में से जिसे मतदाता अपना मत देना चाहे, ठीक उसके नाम के सामने वह × यह चिन्ह लगा देगा।

यदि वह चिन्ह लगाना नहीं जानता, तो प्रेसाइडिंग अफ़सर या वैलट-निरीक्षक से मदद ले सकता है।

दूसरी पद्धति

निशान लगाने की कठिनाई को हल करने के लिये कहीं २ और कभी २ एक और पद्धति भी काम में लाई जाती है। वह यह कि प्रत्येक उम्मेदवार अपना एक विशेष रंग—लाल, पीला, नीला,

हरा आदि—निश्चित कर लेते हैं या पशु, पक्षी आदि के चिन्ह मुक़र्रर कर लेते हैं। फिर उसी रंग या चित्र वाले कार्ड छपा कर प्रेसाइडिंग अफ़सर के सुपुर्द कर देते हैं। मतदाता इन में से जिसके चाहे कार्ड ले जाता है और अपनी पसन्द के उम्मीदवार का कार्ड "बैलट बक्स" में डाल आता है।

कहीं २ इस पर भी निशान लगाया जाता है।

तीसरी पद्धति

तीसरी रीति रंगीन बक्सों की है। अर्थात् प्रत्येक उम्मीदवार का बैलट बक्स अलग रंग का होता है। मतदाता अपना मत, अपनी पसन्द के उम्मीदवार के बक्स में डाल आता है। इसमें न तो निशान लगाने की झंझट रहती है न यह पता लग सकता है कि मतदाता कौन था ? अशिक्षित मतदाताओं के क्षेत्र में यह पद्धति अधिक उपयोगी साबित होती है।

इन सन्दूकों के पास किसी के उपस्थित रहने की, न ज़रूरत होती है, न नियम है।

इन में से किसी नियम का उल्लंघन किया जाना चुनाव सम्बन्धी अनियमितता है।

कुछ अन्य अनियमितताऐं

(१) प्रेसाइडिंग आफ़िसर, पोलिंग आफ़िसर या अन्य किसी अधिकारी का किसी ओर पक्षपात दिखाना।

(२) किसी मतदाता से किसी चुनाव अधिकारी का किसी उम्मेदवार को मत देने के लिये कहना।

(३) किसी उम्मीदवार के एजेंट का किसी मतदाता से अपने उम्मेदवार के पक्ष में मत देने को कहना।

(४) मतदाता के बजाय किसी दूसरे आदमी का, उम्मीदवार का नाम बोल उठना ।

(५) किसी एजेंट का ग़लत मतदाता की तसदीक़ करना।

(६) ठीक समय पर 'मत' लेना शुरू या बंद न करना या अकारण समय से पहले शुरू या बन्द करना।

(७) क्रमशः एक उम्मीदवार के इतने और दूसरे के उतने लेने का नियम बनाना।

(८) उम्मीदवारों और एजेंटों की शिकायतें और आपत्तियां लेने या लेकर रसीद देने से इन्कार करना।

(९) परिचय-पत्र बनाने में किसी उम्मीदवार के मतदाताओं को जान बूझ कर हैरान करना।

(१०) चुनाव स्थान के बाहर किसी मतदाता को कोई रिश्वत, लालच देना या कुछ उसके लाभ की बात करने का वादा करना।

(११) मतदाताओं को किसी के पक्ष या विपक्ष में मत देने के लिये धमकी देना या उन पर अनुचित आक्षेप करना।

(१२) किसी उम्मीदवार के बारे में झूठी, ग़लत-फ़हमी फैलाने वाली बात का प्रचार करना।

(१३) जाति या धर्म के नाम पर किसी को मत देने या न देने के लिये कहना।

(१४) किसी मतदाता को गैरहाजिर करने की कोशिश करना, उसे मत न देने को कहना या और किसी प्रकार रोक रखना।

(१५) मतदाताओं को भोजनादि कराना या भविष्य में दावत आदि देने का वादा करना।

(१६` किसी प्रतियोगी उम्मीदवार को अपना नाम वापिस लेने के लिये रिश्वत देना या उसके लाभ का कोई काम करने का वादा करना अथवा किसी जाति के या दल के काम में मदद करने का वादा करना।

(१७) अपने समर्थन या दूसरे प्रतिस्पर्द्धी का विरोध करने के लिये अपने या दूसरों के नाम से परचे आदि निकालना।

(१८) मतदाताओं को शपथ दिलाना या उनसे शपथ लेना और मतदाताओं का इसी कारण अपनी इच्छा के विरुद्ध मत देना।

घोषणा पत्र

उम्मीदवार अपनी नीति, अपने सिद्धान्त और चुने जाने पर जो कुछ कार्य अपने मतदाताओं के लिये करेंगे, आदि बातें बताने के लिये घोषणा-पत्र निकाल सकते हैं। दूसरे उम्मीदवारों से अपनी नीति का अंतर भी बता सकते हैं, किन्तु शिष्ट भाषा में। इसी प्रकार वे अपने प्रतिद्वन्दियों के आक्षेपों का उत्तर दे सकते हैं। सभाऐं आदि भी कर सकते हैं।

चुनाव सम्बन्धी कार्य

१—चुनाव अफ़सरों को निश्चित समय से आध घंटा पहले पहुँचना चाहिये।

२—चुनाव अफ़सर के पहुँचते ही उम्मीदवारों को अपने २ एजेन्टों की नियुक्ति की लिखित सूचना चुनाव अफ़सर को दे देनी चाहिये।

३—उम्मीदवारों और एजेंटों के सामने चुनाव अफ़सर, 'वैलट वक्स', जिसमें वोट डाले जाते हैं, खोलकर उन्हें दिखलाएगा कि वह बिल्कुल खाली है। फिर उनके सामने उसमें ताला लगा, चाबी उसी के साथ कपड़े में सी कर, उस पर अपनी मुहर कर देगा।

(नोट—उम्मीदवारों को भी अपनी मुहर साथ रखना चाहिये।)

४—इसके बाद वह पोलिंग आफ़िसर नियुक्त करेगा और सब को चुनाव के सम्बन्ध में आवश्यक हिदायतें देगा।

५—इसी प्रकार जब 'वोटिंग' (मतदान) ख़तम हो चुकेगा, तब सब उम्मीदवारों की मौजूदगी में "वैलट वक्स" पर कपड़ा सीकर, उसकी सींवन पर, चुनाव अफ़सर, उम्मीदवार और उनके एजेंटों की मुहरें व दस्तख़त होंगे। रिटर्निंग आफ़िसर अपने दिन भर के काम की एक रिपोर्ट तैयार करेगा, जिसमें अपने प्रत्येक फ़ैसले और कार्य का कारण दिखलावेगा, तथा जितनी शिकायतें आदि आई होंगी, वे सब उसके साथ एक मज़-बूत लिफाफे में रख, उसे डोरों से बांध एवं उस पर मुहरें कर के "वैलट वक्स" के साथ रख देगा। ये 'वैलट वक्स' पुलिस के पास, और मुहरें 'रिटर्निंग अफ़सर' के यहां जमा किये जायँगे और उम्मीदवारों तथा उनके एजेंटों को उनके खोलने की तारीख़ व स्थान की सूचनादी जायगी।

६—निश्चित तारीख़ पर एजेंटों और उम्मीदवारों की मौजूदगी में 'वैलट वक्स' निकाले जायंगे और सब को उनकी मुहरें आदि देखने का अवसर दिया जायगा।

७—यदि मुहर टूटी हो या और कोई ऐसा कारण दिखाई दे, जिससे 'वैलट वक्स' खोले जाने आदि का सन्देह हो, तो तत्काल उसकी शिकायत लिख कर 'अफ़सर' को देनी चाहिये।

८—चुनाव अफ़सर जांच कर के ऐसी शिकायत पर फ़ैसला देने के वाद ही वक्स खोल सकता है।

९—यदि अफ़सर के फ़ैसले से उम्मीदवार या उसके एजेन्ट को सन्तोष न हो, तो वह यह दरख़्वास्त कर सकता है कि वह ऊपर के अफ़सर से अपील करने जा रहा है, तव तक "वैलट-वक्स" उसी अवस्था में सुरक्षित रक्खा जाय।

१०—"वैलट वक्स" खोले जाने पर दोनों ओर के उम्मीद-वारों और उनके एजेन्टों को, 'मत-पत्र' देखने का अवसर दिया जाता है, ताकि कोई मत किसी ग़लती आदि के कारण ख़ारिज होने योग्य हों तो वे उज्र लिख कर दे सकें।

११—आमतौर पर, जहां "वैलट पेपर" पर चिन्ह × या + वनाया जाता है, वहाँ चिन्ह नाम के ठीक सामने न होने, ऊपर या नीचे की 'लाइन' को काट देने, दुहरा या ग़लत चिन्ह (जैसे + +) लगा देने या वोटर नम्बर या नम्बर सिलसिला न होने से मत ख़ारिज कर दिये जाते हैं। निशान के अलावा कुछ लिख देने से भी 'मत' ख़ारिज हो जाता है।

नोट—यदि निशान लगाने में 'मतदाता' से किसी तरह 'वैलट पेपर' ग़लत हो जाय या विगड़ जाय तो मतदाता को अधिकार है कि उसे 'चुनाव अफ़सर' को लौटा कर दूसरा 'वैलट पेपर' ले ले। चुनाव अफ़सर लौटाये हुए वैलट पेपर को ख़ारिज कर देगा और काउंण्टर फ़ाइल पर इस वात का नोट लिख देगा।

१२—यदि किसी मत के ख़ारिज किये जाने या न किये जाने के सम्वन्ध में विवाद वना रहे, तो ऐसे मत "मुहर" करके रख दिये जाते हैं।

१३—इसके वाद मत गिने जाते हैं।

१४—यदि किसी उम्मीदवार या उसके एजेंट को गिनती में कोई सन्देह हो, तो वह उसी समय इन्हें दुवारा गिने जाने की दरख्वास्त कर सकता है और वे दुवारा गिने जायंगे।

१५—यदि 'मत' वैलट पेपर पर निशान लगा कर लिये गये हों और उम्मीदवार या उस के एजेंट को गड़वड़ी का सन्देह हो तो वह 'काउण्टर फ़ाइल'-वैलट पेपर के वचे हिस्से, जिन पर व सिलसिला नंबर पड़ा रहता है—गिने जाने की कर सकता है, जिसे अफ़सर को मंजूर करना ।

१६—यदि मत-पत्रों और "अवशिष्ट-पत्रों" (काउण्टर-..ाइल्स (Counterfoils) की संख्या में अन्तर हो, तो ऐसा चुनाव रद्द हो जायगा।

१७—मत गिने जाने के बाद, सफल उम्मीदवार "चुने गए" घोषित कर दिये जायंगे और मत-पत्र आदि वापिस बक्सों में रख व मुहर करके सुरक्षित रख दिये जायंगे।

कुछ आवश्यक सूचनाएं

१—कोई उम्मीदवार या उसका एजेंट 'प्रेसाइडिंग'-अफ़सर (मत लेने वाला अफ़सर) व रिटर्निंग अफ़सर (चुनाव अफ़सर) नहीं बन सकता। पोलिंग अफ़सर भी निर्पेक्ष व्यक्ति ही हो सकते हैं।

२—'मत' गिनने, मत-पत्रों को लेने, उनकी जांच करने आदि का काम 'चुनाव अफसर' या उसके द्वारा नियुक्त निष्पक्ष व्यक्ति ही कर सकता है। किसी दल विशेष के व्यक्ति या उम्मीदवार के सुपुर्द इन में से कोई काम किया जाना ग़ैर-क़ानूनी है।

३—सरकारी संस्थाओं के चुनावों में बैलट बक्स पुलिस के अधिकार में रहते हैं और 'सील' रिटर्निंग आफ़िसर के पास रहती है। परन्तु यदि 'बैलट बक्स' चुनाव अफ़सर के अधिकार (क़ब्ज़े) में रहें तो 'सील' (मुहर) दूसरे अफ़सर के पास रहनी चाहियें, क्योंकि इस नियम का ध्येय "बैलट बक्स" में किसी तरह की गड़बड़ी होने की सम्भावना न रहने देना है। परन्तु यदि मुहर और 'बैलट बक्स' एक ही व्यक्ति के अधिकार में रहें तो आसानी से मुहर तोड़ कर, मत-पत्र बदल दिये जा सकते हैं या निकाल लिये जा सकते हैं और फिर मुहर कर दी जा सकती है।

४—'चुनाव अफ़सर' को अपने व्यवहार में सर्वथा निर्पेक्ष रहना चाहिये। क्योंकि उसके पक्षपाती साबित होने से उसके आधीन हुए सारे चुनाव रद्द हो जा सकते हैं।

५—चुनाव होने की जगह "वैलट वक्सों" की रक्षा का विशेष प्रवन्ध रहना चाहिये। क्योंकि अनेक वार हारने वाले उम्मीदवार दंगा आदि कराकर "वैलट वक्स" ग़ायब करा देते हैं।

६—चाहे कोई उम्मीदवार हारने वाला हो या जीतने वाला, उसे और उसके एजेन्टों को प्रत्येक छोटी से छोटी ग़लती या शरारत पर ध्यान रख कर, 'पिटीशन' की सामग्री एकत्र करते रहना चाहिये। प्रत्येक शिकायत लिखित देना चाहिये और उसकी रसीद सम्बंधित अफ़सर से लेनी चाहिये।

७—चुनाव की जगह पर सब प्रबंध उस संस्था को करना चाहिये, जिसके अधिकार क्षेत्र में वह जगह हो।

८—मतदाता को चुनाव-स्थल में जिन २ जगहों पर हो कर जाना पड़ता है, उन २ जगहों पर प्रत्येक उम्मीदवार का एक २ एजेंट रहना चाहिये, जिससे एक दूसरे के विरुद्ध मत-दाता पर असर डालने वाली कोई हरकत न हो सके।

९—एजेंटों, उम्मीदवारों और कार्यकर्ताओं का व्यवहार परस्पर भी, और अफ़सरों से भी शिष्टता पूर्ण होना चाहिये।

कांग्रेस और संघ विधान में प्रचलित

एकाकी

हस्तान्तरित-मत-पद्धति

हम वता चुके हैं कि उक्त पद्धति के भिन्न २ देशों में भिन्न २ रूप हैं। ऐसी दशा में हमारे देश में "कांग्रेस" में भी और "संघ-विधान" में भी जो रूप प्रचलित है, वह यहां दे देना आवश्यक है।

शब्द विशेष—इस सम्बन्ध में कुछ शब्दों का अर्थ खास तौर पर समझ लेने को जरूरत है। वे शब्द इस प्रकार हैं:—

नं० १ CONTINUING CANDIDATE

खड़ा हुआ उम्मीदवार—अर्थात् जो अन्त तक अपना नाम वापिस न ले और वरावर चुनाव लड़ रहा हो।

नं० २ UNEXHAUSTED PAPERS

क्रमित-मत-पत्र—अर्थात् वह वैलट पेपर (मत-पत्र) जिस पर किसी खड़े हुए उम्मीदवार को अपना गौण मत सिलसिले या क्रम से दिया गया हो।

शेष दो मत (जो प्रत्येक ४२ की क़ीमत के थे) क्रमशः 'ग' और 'ड' को मिले।

अब 'ज' के मत सब से कम, अर्थात् ३१२ रहे और इसलिये उसका नाम ख़ारिज कर दिया गया। इसके मतों में से क, ग और ट को क्रमशः सौ-सौ मत मिले। शेष दो, १२ की क़ीमत के 'छ' को दिये गए। इस प्रकार क, ग, और ट को पर्याप्त संख्या से ऊपर मत मिल जाने के कारण वे चुने हुए घोषित कर दिये गए।

अब सिर्फ़ एक जगह ख़ाली रही। अतः किसी का नाम ख़ारिज करने के पहले सब के 'अतिरिक्त-मत' जोड़े गए। मालूम हुआ कि 'क' और 'ग' के अतिरिक्त मत ६२ फ़ाज़िल हैं। इनमें से 'क' को मुख्यमत कम मिले थे। अतः पहले उसके मत बाँटे गए। 'क' की आख़िरी गड्डी में १०० मतों के मूल्य के परचे थे और चूंकि इस पत्र पर अलग गौण-मत 'छ' को दिया गया था, अतः ये सब अतिरिक्त-मत उसे दे दिये गए। इसी तरह 'ग' के अतिरिक्त-मत 'झ' को मिले एवं 'ट' के 'ड' को।

अब 'ड' के मत सब से कम रह गए, इसलिये उसका नाम ख़ारिज कर दिया गया एवं उसके ३६६ मत 'झ' को दे दिये गए। इस का फल यह हुआ कि 'झ' के मत पर्याप्त संख्या से बढ़ गए। परन्तु चूंकि जितनी जगहें थीं, वे सब चुनी जा चुकीं अतः 'ड' के शेष मत यों ही रद्द कर दिये गए और 'झ' चुना हुआ घोषित कर दिया गया।